॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

॥ भक्ति सूत्रम्॥

देवर्षि नारद कृत

॥भक्ति सूत्रम्॥

श्री प्रभु के चरणकमलों में समर्पित:

श्री मनीष त्यागी
संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

॥ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

विषय सूची

प्रथम अनुवाक 5

द्वितीय अनुवाक 17

तृतीय अनुवाक 26

चतुर्थ अनुवाक 42

पञ्चम अनुवाक..... 56

षष्ठ अनुवाक 69

सप्तम अनुवाक्..... 80

अष्टम अनुवाक्..... 88

नवम अनुवाक 104

दशम अनुवाक..... 119

॥ॐ॥
॥श्री हरि: शरणम् ॥

देवर्षि नारदकृत – भक्ति सूत्रम्

एक समय श्रीमन्नारायणावतार महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास जी ने बदरिका आश्रम में निवास करते हुए, अपनी इच्छानुसार समस्त ब्रह्माण्ड में विचरण करते हुए वहां आकर उपस्थित हुए देवर्षि नारद जी का दर्शन करके उनका विधि विधान से सत्कार करके पूछा कि- हे देवर्षे ! सुख दुःख मनुष्य के अधीन नहीं हैं, किंतु मनुष्य मात्र सुख दुःख के अधीन हैं। सुख दुःख; मय संसार मनुष्य का बंधन हैं, मनुष्य बंधनको नहीं चाहता।

इसलिए मनुष्य अनिश्चित संसार बंधन से मोक्ष प्राप्त करने की कामना करता है और वह मोक्ष केवल उपाय से साध्य है। कर्म को मोक्ष का साक्षात् उपाय नहीं माना जा सकता। यद्यपि ज्ञान को मोक्ष का साक्षात् उपाय माना जा सकता है, परन्तु भक्ति विहीन ज्ञान को शास्त्र अनुमोदित नहीं करता है। इसलिए, कृपा पूर्वक परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति के एकमात्र साधनरूप भक्ति की व्याख्या करिये?,

श्री कृष्णद्वैपायन वेदव्यास जी के प्रश्न करने पर देवर्षि नादरजी ने कहा, कि - हे महर्षे ! मैं आपके प्रश्न के अनुसार परम पुरुषार्थ के साधन परम प्रेमरूपा भक्ति की व्याख्या करूँगा। आप का अवतार लोक उपकार के लिए ही हुआ है, आपने मुझसे जो यह जो भक्ति विषयक प्रश्न किया है, यह मी लोकोपकार करने के लिये ही है।

आपने अपने शिष्य जैमिनि मुनिके द्वारा पूर्वमीमांसा में कर्म जिज्ञासा और स्वयं ही उत्तर मीमांसामें ज्ञाननिज्ञासा की है।

भक्ति जिज्ञासा के विषय की मेरे मुख से व्याख्या कराने के लिए आप प्रवृत्त हुए हैं। यद्यपि मैं आपकी आज्ञा से भक्ति की व्याख्या करूंगा, परंतु वास्तव में भक्ति की पूर्ण वास्तविक व्याख्या आप स्वयं ही करेंगे यह मेरा भक्तिसूत्र ग्रंथ आपकी उत्तरमीमांसा अन्तर्गत अति संक्षिप्त भक्ति लक्षण की व्याख्या के सूत्र रूप में ही गिना जाएगा।

याप स्वयं ही ब्रह्मसूत्र के भाष्यरूप श्रीमद्भागवत में स्वरचित भक्ति लक्षण के व्याख्यानरूप इन मेरे भक्ति सूत्रों की सविस्तर व्याख्या करेंगे ।

प्रथम अनुवाक

तब देवर्षि नादर जी कुछ सूत्रों द्वारा भक्ति व्याख्या करने लगे। श्री कृष्ण द्वैपायन व्यास जी द्वारा प्रश्न करने पर नारदजी द्वारा कहे गए भक्तिसूत्रों में पहला सूत्र है-

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥१॥

एकमात्र भक्ति से ही परमपुरुषार्थ मोक्ष का साधन होने के कारण अब हम भक्ति के तत्त्व का वर्णन विस्तार पूर्वक करेंगे।

भक्ति ही ईश्वर और परमात्मा के मध्य की दूरी मिटा कर, भक्त को परम पुरषार्थ रूप मोक्ष प्रदान करती है। श्रुति कहती है:

भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति,
भक्तिरेवैनं गमयति, भक्तिवशः पुरुषः भक्तिरेव भूयसी॥

भक्ति भगवान् के समीप ले जाती है। भक्ति भगवान् का दर्शन कराती है। भक्ति भगवान् का ज्ञान देती है। परमपुरुष भगवान् भक्ति के वशमें है। भक्ति ही महान् है।

शास्त्रों में भक्ति को परिभाषित करते हुए कहा गया है - किं नाम भजनं ? भजनं नाम रसनम् । भजन किसे कहते हैं ? भजन कहते हैं रस लेने को। भगवान् के गुण, माहात्म्य, कृपा को स्मरण करके चित्त द्रवित हो जाए और धारा-प्रवाह रूप में मन की समस्त वृत्तियाँ भगवान् की ओर ही बहने लगें, यही 'भक्ति' कही जाती है।

अनेक महापुरुषों ने अनेकों प्रकार से भक्ति की व्याख्या की हैं। कुछ व्याख्याएँ शास्त्रीय हैं, कुछ अशास्त्रीय और कुछ मनमानी रीति से की गयी हैं। किन्तु अशास्त्रीय, मनमानी रीति से भक्ति का स्वरूप निश्चित करने के कारण समाज में अनेक प्रकार के पाखण्ड मत ही प्रचलित हुए हैं। अशास्त्रीय भक्ति कल्याण करनेवाली नहीं होती

वेदशास्त्रपुराणादीन् पाञ्चराप्रविधि विना ।
ऐकान्तिकी हरेभक्तिरुत्पातायैव केवलम् ॥

वेद, शास्त्र, पुराण तथा पाञ्चरात्रसम्मत विधिका त्याग करके जो मनमानी रीतिसे भगवान् की अनन्य भक्ति की जाती है वह केवल लोक में अनर्थ-प्रसार का ही कारण होती है।

मनमानी रीति से लोग भक्ति में न लगें इसलिए नारद जी ने शास्त्र प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप बताने की प्रतिज्ञा की है।

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥२॥

हम जिस भक्ति की व्याख्या करेंगे वह तो परमेश्वर में परम प्रेम रूपा स्वरूप है।

भक्ति शब्द भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर बनता है, भज् धातु का अर्थ सेवा करना अथवा अनुशीलन है, परतत्त्व का रुचिकर भावमय और चेष्टामय अनुशीलन ही भक्ति का स्वरूप लक्षण है, यह अनुशीलन उपाधिरहित हो तो इसको उत्तमा भक्ति कहते हैं, स्वरूपसिद्धा केवला शुद्धा आदि उत्तमा भक्ति ही नाम हैं, यह उत्तमा भक्ति साध्य और साधन भेद से दो प्रकार की है एक साध्यरूपा दूसरी साधनरूपा ।

साध्यक्ति प्रेममयी वा भावमयी है, और इस साध्यभक्ति को प्रकाशित करनेवाली चेष्टामयी भक्ति ही साधनभक्ति है। भाव शब्द का अर्थ रति हैं, यद्यपि शान्त आदि भेद से रति पांच प्रकार की है, परन्तु कान्तारति सर्वोपरि है । यह रति भी मिश्रा और केवला दो प्रकारकी है। केवला रति मिश्रा रति से स्वाभाविक ही श्रेष्ठ है, इसी से सूत्र के परमप्रेम शब्द का अर्थ केवला कान्तारति है अर्थात् केवला कान्तारति अथवा परमप्रेम भक्ति शब्द का अर्थ है।

अनादि परतत्व परमात्मा से विमुख होने के कारण माया से आछन्न हुआ मनुष्य शरीर को ही आत्मा मानने लगता है और शरीर के दुखों से मोहित होकर तथा विषय भोगों में फंसकर संसार चक्र में घूमता रहता है। जब स्वयं ही किसी मनुष्य की उन विषयों की ओर से आसक्ति दूर होती है तब उसी समय परतत्त्व के सन्मुख होने में प्रवृत्ति बढती रहती है अर्थात् विषयभोग का आकर्षण होते हुए भी सौभाग्यवश शास्त्रों में वर्णित परमेश्वर, परमात्मा, रलोक और कर्मफल आदि में विश्वास के साथ उसका चित्त, क्रम से अन्तर्मुख होने लगता है। परमात्मा के विषय का विचार धीरे धीरे बढ़ने का फल साधु संग होता है और वैराग्य उत्पन्न होने पर ज्ञानी का संग होता है और उससे उत्पन्न हुए कारुण्य भाव से भक्तों का संग होता है। साधु ज्ञानी का संग होने से मोक्ष की इच्छा होती है और भक्त का संग होने पर भक्ति की इच्छा बलवती होती जाती है। इस प्रकार भक्ति की इच्छा बलवती होने पर दीनता और निरपेक्षता के साथ भजनक्रिया वा परतत्त्व विषयक श्रवण कीर्तन आदि में अनुकूल चेष्टा करने का उदय होता है यह चेष्टा ही साधनभक्ति है।

साधन अनुकूल मन के वश में हो जाने पर, अनर्थ की निवृत्ति के पश्च्यात निष्ठा आदि के क्रम से भाव प्रकट होता है, भाव का परिपक्व हो जाना अथवा दृढ भावों का मन में उत्पन्न होना ही ही प्रेम है। कान्ता प्रेम ही हमारे प्रेमकी पराकाष्ठा है, इसकारण उसको ही परम प्रेम कह सकते हैं और वह परमपेम ही भक्ति का स्वरुप लक्षण है।

प्रेम भगवान की स्वरूप शक्ति की एका वृत्ति है, उसको भगवान् के नित्य सिद्ध सेवक अपनी सम्पत्ति समझते हैं, वह नित्यधाम के नित्य सिद्ध भगवत पार्षदों की सम्पत्ति होनेपर भी श्रीभगवान के अनुग्रह से

देवनदी गंगा के प्रवाहकी समान संसार में आकर और शुद्ध जीवों के स्वभाव के साथ एकाकार हो कर उनकी स्वाभाविक वृत्ति के रूप में बह रही है।

भक्त और भगवान् का परस्पर सम्बन्ध होने से ही भक्ति का प्रकाश होता है । लौकिक भक्ति के मूल में लोकसम्बन्ध है और भगवत भक्ति के मूल में भगवत्सम्बंध देखने में आता है। भगवान ने जीव को प्रायः अपनी सदृश ही रचा है वैसे ही जीव के संसार को भी अप्राकृत संसार के अनुरूप ही रचा है। वृहदारण्यक उपनिषद कहता है

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्थात वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म पुरुषोत्तम परमात्मा सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परब्रह्म से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

केवल वह पूर्ण है, जीव अपूर्ण है। उनका संसार अप्राकृत है,. जीव का संसार प्राकृत है, इतना ही भेद होनेपर भी परमेश्वरका प्रशभूत जीव जिस उपायके द्वारा प्राकृत संसारमें से अप्राकृत संसार में पहुँचेगा, वह उपाय प्राकृत और अप्राकृत दोनों के सन्धिस्थान में स्थित है। यह उपाय भक्ति ही है । भक्ति जीव का नेत्र है, भक्ति ज्ञान का सार विज्ञान है, भक्ति हृदयरूप खान में स्थित स्वच्छ रत्न है । देखने योग्य ग्य वस्तु के साथ नेत्रों का, जानने योग्य वस्तु के साथ विज्ञान का और क्रययोग्य वस्तु के साथ रत्नादि का जो सम्बन्ध है,

भक्ति के साथ भगवान का वही संबन्ध है । जीव भक्ति के द्वारा ही भगवान् को देखता, जानता और समझता है और भक्ति की शक्ति के कारण भगवान् को अपने अधीन भी कर लेता है। श्रीमद भागवत महातम्य में तो कहा ही गया है कि मनुष्यों का सहस्त्रों जन्म के पुण्य-प्रताप से भक्ति में अनुराग होता है । कलियुग में केवल भक्ति, केवल भक्ति ही सार है । भक्ति से तो साक्षात श्रीकृष्णचन्द्र सामने उपस्थित हो जाते हैं ।

जीव भक्ति की सहायता से ही प्राकृत संसार के साथ भगवसंसार का सम्बन्ध स्थापित करता हुआ इस प्राकृत संसार में ही भगवत संसार को प्राप्त कर लेता है और मृत्यु के पश्च्यात प्राकृत संसार से भगवत संसार में प्रवेश करता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है, कि-भक्ति परमात्मा को प्राप्त करने का प्रथम और अंतिम प्रवेश द्वार है, परमात्मा की और अग्रसर होने की पहली और अंतिम सीढ़ी है। भक्ति ही आदि है, भक्ति ही अन्त है, भक्ति ही जीव का सबले पहला आलंबन है और वही जीव का अन्तिम आश्रय है, भक्ति के विना परमात्मा तक नहीं पहुंचा जा सकता।

जितनी भक्ति होगी उतना ही परमात्माका ज्ञान होगा और उतनी ही अन्य विषयों में आसक्ति कम होगी, इसीलिये देवर्षि नारदजी ने भक्ति का लक्षण किया है, कि- परमेश्वर में परम प्रेम ही भक्ति है।

प्रेम सर्वत्र कोमल होता है किन्तु उसमें एक दृढ़ पकड़ होती है-वह प्रियतमको छोड़ नहीं सकता। चित्त कोमल बनाओ और उसमें भगवान्को बैठा लो-प्रभुजी मैं तेरा, तू मेरा । उस सौन्दर्य माधुर्य धनको

अपना बना लो। पर ममत्वका यह भाव चित्तके भीतर ही रह जायगा तो भक्ति पूर्ण नहीं होगी। ममता को बाहर भी आना चाहिये-हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुत्तमा ॥ भक्तिके आनन्दको अपनेतक ही मत रखो। अपने सर्वस्वसे उस प्रियतम प्रभुकी सेवा करो। नेत्रसे उसे उसके अर्चा विग्रहको देखना सेवा है। कर्ण से उसकी कथा, उसके गुण सुनना सेवा है। इसी प्रकार अपनी समस्त इन्द्रियों को उसकी सेवा में लगा दो।

परन्तु वह परमप्रेम रुपी भक्ति कैसी है, इसके विषय में कहा गया है-

अमृतस्वरूपा च॥३॥

वह परम प्रेम स्वरूपा भक्ति अमृतरूप है।

समुद्र मन्थन के समय उत्पन्न हुई, रोग, शोल, जन्म मृत्यु आदि का नाश करने वाली, देवताओं के भोगनेयोग्य परम औषध का नाम अमृत है। भक्ति इस अमृत के समान है।

परमात्मा के लीलारूप समुद्र को मथने से यह प्रेम रूप अमृत उत्पन्न होता है, वह परमात्मा के प्रेमी साधुजनों द्वारा भोगने योग्य है, इसके सेवनसे सम्पूर्ण भवरोग का नाश होता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारके तापों का नाश होता है, और पुनर्जन्म और मृत्यु के दुखों से मुक्ति प्राप्त होती है। जीव पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, तृष्णारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प होता है, इसलिए इस परम प्रेम स्वरूपा भक्ति को अमृत के समान कहा गया है।

अतः भक्ति तो भगवान्की आह्लादिनी शक्तिका सारसर्वस्व है, उन परमानन्दस्वरूपका जो स्वरूपभूत आनन्द है, वही है। भग वान् जब अपने ही स्वरूपभूत आनन्दका रसास्वादन करना चाहते हैं तब भक्तके हृदयमें स्वयं उस आनन्दको स्थापित करते हैं और फिर उस आनन्दके वशमें हो जाते हैं। भगवान् अपने ही स्वरूप भूत आनन्द का आस्वादन करते हैं।

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम् ।

यह भगवन्नाम समस्त मंगलोंको भी मंगल बनानेवाला, अत्यन्त मधुर है। सम्पूर्ण वेदरूपी लताओं का यह परमरसमय ज्ञानस्वरूप उत्तम फल है।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो सधात ॥ ४ ॥

जिस भक्ति को प्राप्त कर जीव सिद्ध हो जाता है। अमर हो जाता है तथा तृप्त हो जाता है।

भाव यह है कि उस परम प्रेम स्वरूप भक्ति को प्राप्त कर जीव उसी प्रकार सिद्ध, अमर तथा तृप्त हो जाता है। जिस प्रकार प्राकृत अमृत को पाकर देवता अपने को सिद्ध, अमर और तृप्त मान लेते हैं जीव सिद्ध हो जाता है। अमर हो जाता है तथा तृप्त हो जाता है।

परंतु वास्तव में भक्ति अमृत से भी अधिक तृप्ति प्रदान करने वाला साधन है क्योंकि यदि देवता अमृत पान करने से सिद्ध अमर तथा

तृप्त हो जाते तो उनमें किसी पदार्थ का अभाव, ईर्षा, द्वेष, भय और असन्तोष भादि देखने में नहीं आता परन्तु स्वर्ग में इन सब दोषों के विद्यमान होने का वृतांत पुराण आदि में प्रसिद्ध है।

जो साधन करता है वह सिद्ध होता है, जो ज्ञान-सम्पादन करता है वह अमृतत्व को प्राप्त करता है और जो पदार्थो का, भोगों का संग्रह कर पाता है उसे भोग के द्वारा तृप्ति होती है। किन्तु भक्तको बिना साधनके ही सिद्धि प्राप्त होती है, बिना शास्त्रों का विवेचन किये अमृतत्व की प्रप्ति होती है, बिना संग्रह एवं भोग के उसे अखण्ड तृप्ति रहती है।

भक्तको सिद्धिके लिए जप, तप अथवा योगाभ्यास नही करना पड़ता। मोक्षके लिए पृथक्से उसे श्रवण-मनन-निदिध्यासन करनेकी आवश्यकता नहीं होती। तृप्तिके लिए उसे भोगोंका संग्रह-वस्तु परिग्रह आवश्यक नहीं होता। भक्ति का उदय होने पर जीव को और किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती मुक्ति स्वयं ही आकर उसकी सेवा करती है जिससे उसको परमानन्द की प्राप्ति होती है तथा उसको इस लोक अथवा परलोका के किसी सुखभोग की वासना नहीं रहती।
भक्ति से भक्त अमर नहीं होता, स्वयं अमृत बन जाता है। वह इतना मधुर हो जाता है कि जो उसके सम्पर्क में आते हैं उन्हें भी माधुर्य तथा आनन्दकी प्राप्ति होती है। उसके शब्द प्रभु के शब्द हो जाते हैं। उसका स्पर्श प्रभु का स्पर्श होता है। उससे लोगों को अमृततत्त्व उपलब्ध होता है। ॥४॥

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥५॥

जिस प्रेम को प्राप्त कर, न तो किसी अन्य को प्राप्त करने की चाह रहती ह, न शोक होता है, न द्वेष उत्पन्न होता है, न आसक्ति होती है और न उत्साह वर्धन ही होता है।

इस संसार में सुख पाने के लिये मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म करता है, परन्तु उन कर्मों को निरंतर करते रहने पर भी सदा दुखी ही रहता है, किसी भी प्रकार की शांति प्राप्त नहीं करता और यह आशा भी नहीं रहती की उन लौकिक कर्मों को करने से किसी भी प्रकार की शान्ति प्राप्त की जा सकती हैं अपितु उन कर्मों को करने से मन सदा, ईर्ष्या, द्वेष, इच्छाओं के भंवर में ही फंसा रहता है।

परंतु भक्ति का उदय होने पर मन श्री भगवान के चरणों में अर्पित और विलीन हो जाता है और मन में क्रियाओं और चेष्टाओं की समाप्ति के बाद न तो किसी अन्य को प्राप्त करने की कामना रहती है, न शोक होता है, न द्वेष उत्पन्न होता है, न आसक्ति होती है और न उत्साह वर्धन ही होता है

हृदय में भगवान् प्रकट हुए, उनकी सेवा प्राप्त हुई, उनका सान्निध्य मिला। अब भक्त उनका दर्शन करे, उनकी सेवा करे या अन्य किसी अप्राप्तकी प्राप्त करनेको इच्छा करे ? इस कारण भक्त के हृदयमें अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की कामना नहीं होती। क्योंकि कामना का दुर्गुण यह है कि वह अपने घर में नहीं रहने देती, अपने मन को दूसरेके घरमें बैठा देती है। परन्तु यह बात भक्त में नहीं होती। वह श्री भगवान के चरणों में ही रमता है, संसार में कहीं नहीं रमता ।॥ ५ ॥

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्यो भवत्यात्मारामो भवति ॥ ६॥

जिस प्रेम का अनुभव करके उन्मत्त होता है, चेष्टारहित होता है, आत्माराम होता है।

प्रेम भक्त को मतवाला नहीं बनता अपितु जीव को अपने स्वरूप का अनुभव कराकार रागोन्मत्त, अन्य विषयों में उद्योग
रहित और आत्मा की और अग्रसर कर देता है। जब भक्त के हृदय में प्रेम का बवंडर उठता है उससमय उसका शरीर रोमाञ्चित, नेत्र आसुओं से पूर्ण और स्वर गदगद हो जाताहै। भक्त मतवाले मनुष्य के समान ऊँचे स्वर से गाता और नाचता है, विकट हास्य करता है और बार बार उच्च स्वर से "श्रीकृष्ण ! नारायण ! वासुदेव" आदि भगवान् के नामों का उच्चारण करता है। कभी मग्न हुआ जड़ के समान निश्चल बैठ जाता है और कभी अपने आप ही मतवाला होकर परमानन्द को भोगता है।

भक्तों के इन्ही लक्षणों का वर्णन श्रीमद्भागवत में भक्त शिरोमणि प्रह्लाद जी ने दैत्य बालको को उपदेश देते समय किया है:

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥३४॥

यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥ ३५ ॥

तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।

निर्दग्धबीजानुशयो महीयसाभक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥३६॥
श्रीमद्भागवत ७।७।३४-३६

जिन्होंने भक्तों के वशीभूत होकर उन्हें सुख पँहुचाने के निमित्त भाँति-भाँति की अलौकिक लीलाए की हैं;; उन श्रीहरि के अद्वितीय गुणकर्मो तथा अद्भुत वीर्य-पराक्रमों के माहात्म्य का श्रवण करके प्रेमी भक्त के शरीर में कभी तो अत्यन्त हर्ष के कारण रोमांच हो जाते हैं, कभी आखों में से अश्रुधारा बहने लगती है, कभी गदगद कण्ठ से वह गान करने लगता है, कभी रोता है और कभी उन्मादी की भाँति प्रेम में निमग्न होकर नृत्य करने लगता है।

जिस समय वह ग्रहग्रस्त पागल की तरह कभी हँसता है, कभी करुण-क्रन्दन करने लगता है, कभी ध्यान करता है तो कभी भगवद्भाव से लोगों की वन्दना करने लगता है; जब वह भगवान् में ही तन्मय हो जाता है, बार-बार लंबी साँस खींचता है और सङ्कोच छोडक़र 'हरे ! जगत्पते !! नारायण' !!! कहकर पुकारने लगता है— तब भक्तियोग के महान् प्रभाव से उसके सारे बन्धन कट जाते हैं और भगवद्भाव की ही भावना करते-करते उसका हृदय भी तदाकार—भगवन्मय हो जाता है। उस समय उसके जन्म-मृत्यु के बीजों का खजाना ही जल जाता है और वह पुरुष श्रीभगवान् को प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि जीव ज्ञान की प्राप्ति से भी आत्मा में रमण करने वाला हो सकता है, परन्तु वास्तवित आत्माराम तो प्रेमी भक्त ही है, क्योंकि ज्ञानियों को भी भगवान के गुणों से आकृष्ट होकर भगवान में अहैतु भक्ति स्थापित करने की चेष्टा करनी ही पड़ती है। ज्ञान बिना तरंगों के समुद्र की समान है और प्रेमसागर में सदा तरंगें उठती रहती हैं।

अत: ज्ञानी पुरुष प्रेमी भक्तों के समान प्रेमससागर में तरंग उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु प्रेमी भक्तों को और कुछ यत्न नहीं करना पड़ता वह सदा ही भगवान की लीला रूपी तरंगो में स्नान करता हुआ उसमें ही उन्मत्त होकर, अन्य विषयों में चेष्टारहित और उसमें ही तृप्त रह कर अपनी आत्मा में रमण करता है ॥६॥

द्वितीय अनुवाक

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥७॥

वह भक्ति निरोधस्वरूप होने से किसी कामना को पूर्ण करने के लिये सकाम नहीं है।

प्रेम साध्य रूप, साधना का फल है । श्रवण प्रादि प्रेम का साधन है। प्रेम श्रवण भादि साधन भक्तियो द्वारा साध्य होने पर भी भक्ति को सकाम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी प्रकारकी फल कामनाओं का त्यागरूप निरोध, साधन भक्ति में प्रवेश कारने का द्वार है। किस पद्धति में फलत्याग ही प्रवेश करने का द्वार है, फल को ईश्वरार्पण करना ही जिसका प्राण है तब उस पद्धति को सकाम नहीं कहा जा सकता। फल को प्राप्त करने के उद्देश्य से किया हुया कर्म ही सकाम होता है; यज्ञादि कर्म फल प्राप्ति ने उद्देश्य से ही किये जाते हैं, इसलिए सकाम कर्म कहलाते हैं । कामनाओं को पूरी करनेके लिये भक्ति करना तो केवल वाणिज्य अर्थात व्यापार है।
भगवान ने नृसिंह अवतार में प्रकट होकर भक्त प्रह्लाद जी से कहा था, कि पुत्र! वर मांगों, इस पर प्रह्लादजी ने हाथ जोड़ कर उनसे कहा

कि-'यस्त आशिप आ शास्ते न स भृत्य: स वै वणिक्" अर्थात हे प्रभो ! मैं व्यापारी नहीं हूँ मैं तो आपका भक्त हूँ, जो पुरुष आपसे अपनी सेवा के बदले में इसलोक अथवा परलोक का विषयसुख चाहता है वह आपका सेवक नहीं है, किंतु केवल लेन देन करनेवाला व्यापारी है। और यदि आप वर देना हो चाहते हैं तो मुझ पर यह कृपा कीजिए कि-मेरे चित्तमें राज्यभोग वा स्वर्गीय सुखभोग आदि किसी विषय की वासना उत्पन्न न हो।

यही बात श्री भगवान ने भी श्रीमद भागवत महापुराण में कही है:

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता घना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥

अर्थात् जिन्होने अपनी बुद्धि मुझमें ही समर्पित कर दी हैं उनकी इच्छा किसी विषय फल नहीं चाहती, क्योंकि भूने अथवा पकाए हुए धानों से अंकुर नहीं उग सकता।

इंद्रिय, मन और प्राण आदि के निरुद्ध अर्थात् बाहरी व्यापारसे हटे विना वास्तविक प्रेम वा भक्ति का उदय नहीं होता। यह निरोध छह प्रकार का है अर्थात् परमात्मा की और प्रकार की भावना करने से जीव का चित्त संसार की और से हटकर परमात्माकी ओर आकर्षित होने लगता है। ॥ ७ ॥

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः॥ ८॥

निरोध तो लौकिक और वैदिक सफल व्यापारों का त्याग है।

मन और इन्द्रियों की समस्त वृत्तियों के बाहरी चेष्टाओं को त्याग देने पर अथवा ईश्वर की पूर्ण शरण ग्रहण करने के पश्च्यात लौकिक अथवा वैदिक व्यवहार किसी कर्म में भी भक्त की प्रवृत्ति नहीं होती भक्त निष्क्रिय और धर्म अधर्म के अनुष्ठान से रहित हो जाता है, इसीलिए धाहार विहार आदि लौकिक कार्य और यज्ञ आदि वैदिक कार्ययों के त्याग को है क्योंकि समस्त लौकिक और वैदिक कर्मों का त्याग तो असंभव है, इसलिये फल के कामनाराहित कर्मानुष्ठान का नाम ही निरोध है, वास्तविक ईश्वरभक्त का कोई कर्म स्वार्थ के लिये नहीं होता, केवल भगवत्प्रसन्नतार्थ होता है, इसी कारण भक्त के निष्काम कर्म को ही निरोध कहा जा सकता है ॥ ८ ॥

तस्मिन्नन्यता तद्विरोधिपूदासीनता च ॥९॥

जिस प्रेम साधन में अनन्यता और जिसके विरोधी विषयों में उदासीन प्रवृत्ति का होना ॥

निरोध शब्दका अर्थ केवल कर्म फलका त्याग ही नहीं है, किंतु प्रेमसाधन में अनन्यता और प्रेमसाधन के विरोधी विषयों में प्रवृत्ति न होना भी है। क्योंकि केवल कर्मफल के त्याग से पूपूरा लाभ प्राप्त नहीं हो सकता, किंतु प्रेम प्राप्त करने के लिए कर्मफल के त्याग के साथ प्रेमसाधन में अनन्यता और उसके विरोधी विषयों में प्रवृत्ति रहित भी होना चाहिये।

समस्त सांसारिक साधनों से मुक्त होकर केवल एक मात्र सर्व समर्थ प्रभु का ही भरोसा ही अनन्यता है। वही साधन करने की प्रेरणा देता

है और वही मार्ग दिखलाता है। वही बार बार चित्त की वृत्ति में आता है और अंत में वही फल बनकर सम्मुख आ जाता है ।

परन्तु भगवत भक्तो को विरोध सर्वथा झेलना पड़ता है चाहे वो भक्त प्रहलाद हों, चाहे विभीषण तब मनुष्य को क्या करना चाहिए? क्या उनको शत्रुता बना लेना चाहिए। यह वक सरल उपाय हो सकता है परन्तु ऐसा करने से तो हम केवल उनका अभीष्ट ही पूरा करेंगे, क्योंकि विरोधी तो चाहते ही थे की हम भगवान से विमुख हो जाएं और यदि हम उनका विरोध करने में, घात पात में लग गए तो भगवत भजन का समय भी व्यर्थ होगा और मन भी अशांत रहेगा जिसके कारण चाह कर भी भजन नहीं होगा। अत: उनका विरोध मन करो अपितु उनकी और से उदासीन हो जाओ, विमुख हो जाओ । भगवत विरोधी जो कहें उनको कहने दो पर अपने मन मस्तिक्ष को सदा भगवान के भजन, सुमिरन में ही लगाए रखो ।

मीरा बाई में जब अपने ससुराल के लोंगों का अपने प्रति विरोध श्री गौस्वामी तुलसीदास जी को बताया तो उन्होंने कहा:

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥
तजेउ पिता प्रहलाद विभीषन बन्धु भरत महँतारी ।
बलि गुरु तजेउ नाह व्रजवनितन्ह, भे जग मङ्गलकारी ॥
नातो नह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अञ्जन कहा ऑखि जेहि फूटइ, बहुतक कहउँ कहाँ लौँ ॥

जिन्हें राम-जानकी प्यारे नहीं हैं, यद्यपि यह परम स्नेही ही क्यों न हो तो भी उसको करोड़ों शत्रु के समान जान कर त्याग देना चाहिये। प्रह्लाद ने अपने पिता को, विभीषण ने अपने भाई को और भरतजी ने अपनी माता को त्याग दिया। बलि ने अपने गुरु को और ब्रज गोपिकाओं ने अपने पति को त्याग दिया, परन्तु यह सभी संसार में मंगल कारी हुए। रामचन्द्रजी के स्नेह के नाते जितने सुहृदय, मित्र और सुन्दर सेवा करने योग्य हैं केवल उनको मानना चाहिये। अब अधिक क्या कहूं, वह अंजन किस काम का जिससे आँख फूट जाएँ ।

अपने इष्ट देव में, भजन पद्धति, भगवान में अनन्यता होनी चाहिए और इनके विरोधियों में उदासीनता।

अन्याश्रयाणान्त्यागोऽनन्यता ॥ १० ॥

अन्य समस्त आश्रयों का त्याग ही अनन्यता है।

केवल एकमात्र प्रेमसाधन श्रवण आदि साधनभक्ति का आश्रय लेकर उससे अन्य ससमस्त आश्रयो को त्याग देना अनन्यता है, इस कारण अनन्यता शब्दका अर्थ है शरणागत होना।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥ इत्यच्युताघ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥

श्रीमद्भाग० ११।२।४२-४३

जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ तृप्ति मिलती है, शरीर पुष्ट होता है और क्षुधा-निवृत्ति होती है वैसे ही शरणागतको भगवान की भक्ति, भगवत्तत्त्व का अनुभव तथा विषयों से वैराग्य, यह तीनों बातें एक साथ ही प्राप्त होती हैं। राजन् परीक्षित ! जो चित्त में निरन्तर भगवान के चरणकमलों का चिन्तन करता है उस भगवद्भक्त को भक्ति, वैराग्य तथा भगवत्तत्त्व का ज्ञान अपने आप प्राप्त हो जाता है और इसके पश्चात् वह परमशान्तिको प्राप्त करता है।

लोकवेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिदासीनता ॥११॥

लोक और वेद में प्रेम साधन के अनुकूल आचरण करना ही उसके विरोधियों में उदासीनता है ।

यदि प्रेम और उसके साधनों के प्रतिकूल जो राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि अनेकों अनर्थ हैं उनसे उदासीन होना है तो एकनिष्ठा के साथ चिरकाल से प्रचलित लौकिक सद व्यवहार और वेदविहित धर्मानुष्ठान रूप भगवद्भाव के अनुकूल आचरण करना होगा। विहित कर्मों के अनुष्ठान किये विना राग द्वेष आदि से उदासीनता नहीं हो सकती और विहित कर्मों का अनुष्ठान निष्कामभाव और एकनिष्ठा से करते रहो तो भगवद्भाव के प्रतिकूल कार्यमात्र में अपने आप अनास्था और उदासीनता हो जायगी ।

लौकिक और वेदविहित कर्म करने से आशय है की अपना जीवन सुचारू रूप से चलाने के लिए समस्त कर्म करने चाहिए परन्तु वह

समस्त कर्म केवल भगवन को अर्पित करने के लिए, भगवान की आज्ञा अनुसार कने चाहिए। यह सदैव ध्यान रखना चाहिए की हम भगवान के सेवक हैं और भगवां की आज्ञा से कर्म कर रहे हैं । हम लोक अथवा वेदों के सेवक नहीं है । इसलिए वेद अथवा लोक में भक्ति के प्रतिकूल जो विधान हों उनसे उदासीन हो जाना चाहिए और जिन कर्मों से भक्ति में वृद्धि हो उनका अनुसरण करना चहिए ।

भवतु निश्चयदाढर्यादूर्व शास्त्ररक्षणम्॥१२॥

निश्चय बुद्धि दृढ होने से बाद शास्त्र मर्यादा की रक्षा होती है ॥१२॥

भगवान की उपासना करते करते जब तक एकनिष्ठा रूप श्रद्धा अविचल न हो, तब तक शास्त्र में लिखे हुए अपने अधिकारानुसार विहित और निषिद्ध कर्मों की ओर अवश्य ध्यान रखकर चलना चाहिए, क्योंकि भक्ति की अपरिपक्व दशा में कर्मानुष्ठान पर अश्रद्धा करने से मन की मलिनता दूर नहीं होती और वह मलिनता भक्त को प्रबल नहीं होने देती भक्तिसाधन सिद्ध होनेपर कर्मनिष्ठा अपने आप ही निवृत्त हो जाती है, इस कारण उस समय कर्म नहीं करने से शास्त्रों में बताए हुए नित्य कर्म के न करने से पाप अथवा दोष नहीं होता और यदि कोई भक्ति का अधिकारी अपने अधिकार को दृढ करने के लिये फिर भी कर्म का अनुष्ठान करे तो उसमें कोई दोष भी नहीं है।

श्रीमद भागवत महापुराण में भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं:

तावत्कर्मणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
त्वत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ (श्रीमद भागवत ११।२०।९)

अर्थात जब तक वैराग्य न हो जाए तब तक कर्म करने चाहिए। जब मेरी कथा के श्रवण, पूजन, कीर्तन आदि में श्रद्धा हो जाए तब भी नियम का पालन नहीं छोड़ना चाहिए।

अन्यथा पातित्यशंकया ॥ १३ ॥

ऐसा न कारने से साधन से पतित होने का सन्देह है॥

शास्त्रो द्वारा वर्णित आचरण नहीं करने पर पतित होने का भय बना रहता है।भगवान की उपासना में दृढ निश्चय बुद्धि हो जाने पर भी शास्त्रों का आचरण करने से नए भक्तों का आदर्श बना रहता है । श्रीमद भागवत गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय भी उसी का अनुकरण करने लग जाता है ।

अत: यदि भक्त शास्त्रों के विरुद्ध आचरण करेगा तो एनी मनुष्य भी वैसा ही आचरण करेंगे। जैसे वृक्ष के नए पौधे की जड़ में जल न देने से उसका सूख जाना संभव है, वैसे ही भक्तिरूप लता की जड़ में

कर्म रूप जल से विना सींचे उसके नाश हो जाने की शंका है, इस कारण भक्ति को दृढ़ करने के लिये शास्त्रविहित कर्मका अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिये। निश्चय दृढ हो जाने से पहले तो पतन की आशंका बनी रहती है परन्तु निश्चय दृढ हो जाने पर पतन की शंका ही नहीं रहती

यान् आस्थाय नरः राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन पतेत् इह॥

यश भक्तिमार्ग ऐसा है कि हे राजन जो आस्थावान मनुष्य प्रमाद नहीं करते अर्थात दृढ निश्य रखते हैं, वह नेत्र बंद करके दौड़ने पर भी न तो फिसलते हैं और न ही गिरते हैं ॥१३ ॥

लोकोऽपि तावदेव किंतु भोजनादिव्यापारस्त्वा शरीरधारणावधि ॥१४॥

लोकाचार भी तभी तक ही है परन्तु भोजन आदि का व्यवहार तो शरीरधारणपर्यन्त रहता है ।

कितने ही मनुष्य शंका करते हैं कि जब खाना पीना आदि कर्म ही न छूटा तो जीवन में कर्मत्याग ही क्या हुआ ? इस शंका को दूर करने के लिये ही इस सूत्र की रचना की गई है। भोजनादि व्यवहार केवल शरीर की रक्षा मात्र के लिए है, भोजनत्याग का नाम कर्मत्याग नहीं है, यदि ऐसा होता तब भोजन त्याग कर मर जाने से ही होकर कार्यसिद्धि हो जाती। इसकारण यहाँ कर्म कहने से समस्त पारलौतिक कर्म कर लेना, जब तक वासनाका क्षय न हो तब तक

ही लौकिक और पारमार्थिक कर्मों का अनुष्ठान कर लीना और जब वासना का क्षय हो जाए तब तक उसके लिये कोई विधि निषेध नहीं है ।

लोकाचार की मर्यादा का नियम भी श्रद्धा की दृढ़ता होने तक ही है, श्रद्धा दृढ हो जाने के पश्च्यात लोकमर्यादा की रक्षा न की जाए तो कोई हानि नहीं है, परन्तु भोजनादिरूप लौकिक व्यवहार तो शररिधारण पर्यन्त होगा ही, यह नियम आश्रमी अधिकारियों के लिये ह ,कि उन्हें स्वधर्माचरण के द्वारा लोकमर्यादा के रक्षा करनी चाहिए, परिनिछित अधिकारी को भी लोकशिक्षा के लिये लौकिक सदाचारका पालन करना चाहिये, परंतु निरपेक्ष अधिकारी के लिये कोई नियम नहीं है, वह लौकिक कर्माचरण को किए विना शरीर धारण न करे तो लौकिक कर्मों का आचरण करे और यदि लौकिक कार्यानुष्ठान के बिना ही शरीर धारण कर सके तो वह उसको भी त्याग सकता है।

तृतीय अनुवाक

तरलक्षणानि वाल्यन्ते नानामतभेदात् ॥१५॥

उस भक्ति के लक्षण अनेकों मतों के भेद से कहे जाते हैं।

भक्ति में क्या भेद हो सकता है ? भक्ति में वास्तव में वास्तव में कोई भेद न होनेपर भी विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न सम्प्रदायानुसार साधनगत भेद से भक्ति के विभिन्न लक्षण कहे हैं।

वास्तव में यह सूत्र वक्तव्य विषय की प्रतिज्ञाका बोधक नहीं है, किंतु लोक में जो पिता, माता, बन्धु, बांधव, स्त्री, पुत्र आदि में प्रेमभाव दिखाई देता है , वह वास्तविक प्रेम नहीं है, शास्त्रोक्त प्रेम और उसका जिस प्रकार महात्मा अनेकों प्रकार से लक्षण करते हैं उसकी और ध्यान दिलाना ही इस सूत्रका लक्ष्य है ॥१५॥

पूजादिष्वनुराग इति पराशर्यः ॥ १६ ॥

पूजा आदि में अनुराग हो जाना यह पराशर मुनि का मत है।

जिस वृत्ति का उदय होने पर भगवान की पूजा, कीर्तन आदि में, अनुराग उत्पन्न हो जाए वह वृत्तिविशेष ही भक्ति का स्वरूप है, वह साध्यरूप है और अनुराग के साथ भगवत्पूजन, मन्त्र उच्चारण नाम कीर्तन आदि उसका साधन है, इस प्रकार वास्तव में कुछ मतभेद नहीं है।

जब भगवान् की पूजा में अनुराग हो जाए तब समझना चाहिए की भक्ति में निश्चय दृढ हो गया ।

कथादिष्विति गार्गः ॥१७॥

कथा आदि में अनुराग होना, ऐसा गर्ग मुनि का मत है।

जिस वृत्ति का उदय होने पर, भगवान ने गुणानुवाद को सुनना और सुनाना ही समान साधनोंका सार है ऐसा जानकार उसमें गाढ़ अभिनिवेश और श्रद्धा उत्पन्न हो जाए, वह वृत्ति ही भक्ति है ऐसा गर्ग ऋषिका मत है, यह वृत्ति साध्य है और अनुराग के साथ भगवात कथा का श्रवण आदि उसका साधन है, अतः मत में कोई भेद नहीं है।

भगवान् का स्मरण करके उसमे रस लेना भजन है। यह भजन चाहे माला से हो, पाठ से हो, पूजा से हो अथवा पदगान से हो । जितना भजन होगा उतना ही कथा में रस आएगा, कथा श्रवण से भगवान् में प्रेम बढेगा और प्रेम बढ़ने से सेवा बढती जाएगी ।

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविपुट्सकृद्दनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः। सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इह विहंगा भिक्षुचर्यां चरन्ति।

श्रीमद भगवत महापुराण में गोपांगनाएँ एक दूसरे से परस्पर कह रही हैं, हे सखी! जिसने भी इस मदनमोहन श्यामसुन्दर की कर्ण-पीयूष रुपी अनुचरित लीलाओं को सुना उसके दुःख सुख आदि द्वन्द्वधर्म नष्ट हो गए और गृहस्थ-धर्म में लगे हुए मनुष्य विरक्त होकर भिक्षा धर्म का पालन करते हुए परमहंस बनकर संसार में यत्र तत्र घूमने लगे। ॥ १६ ॥

कथा में कैसे अनुराग हो सकता है? अरे यह कथाएँ तो हमने बचपन से सुनी हैं? अरे कथा कहना तो इन कथावाचकों का व्यवसाय है। ऐसी धारणा रखने वाले मनुष्यों का कथा में अनुराग तो हो नहीं सकता और अनुराग नहीं होगा तो दृढ़ता नहीं आयेगी, इसलिए भक्ति

प्राप्त के लिए भगवान के लीलाओं का श्रवण करना चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं।
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥
भव सागर चह पार जो पावा। राम कथा ता कहँ दृढ़ नावा।
बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥
श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति चरित सोहाहीं।
ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सोहाती॥

श्री रामजी के चरित्र सुनते-सुनते जो तृप्त हो जाते हैं, उन्होंने तो उसका विशेष रस जाना ही नहीं। जो जीवन्मुक्त महामुनि हैं, वे भी भगवान् के गुण निरंतर सुनते रहते हैं। जो संसार रूपी सागर का पार पाना चाहता है, उसके लिए तो श्री रामजी की कथा दृढ़ नौका के समान है। श्री हरि के गुणसमूह तो विषयी लोगों के लिए भी कानों को सुख देने वाले और मन को आनंद देने वाले हैं। जगत् में कान वाला ऐसा कौन है, जिसे श्री रघुनाथजी के चरित्र न सुहाते हों। जिन्हें श्री रघुनाथजी की कथा नहीं सुहाती, वे मूर्ख जीव तो अपनी आत्मा की हत्या करने वाले हैं।

क्योंकि यदि भगवान् की कथा में प्रेम नहीं होगा तो शत्रुओं की, स्त्रियों की, राजा अथवा राजनीति की, भोगों की और संसार की कथाओं में मन रमेगा जिससे हृदय और भी दुखी होगा। इसलिए भगवान की कथा सुननी और सुनानी चाहिए । भगवत कथा हृदय को भी शुद्ध करती है और भगवान का प्रेम भी देती है।

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।

ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्जलु होइ॥

बिहारी कहते हैं कि मनुष्य के अनुरागी मन के परिणाम को कोई समझ नहीं सकता। इस मन को प्रभु भक्ति में लगाओ ताकि यह उजला होता जाए।

इस प्रकार जब भगवान् से स्वरुप, गुण, स्वाभाव, लीला के श्रवण में आनंद आने लगे, उसमे अनुराग उत्पन्न हो जाए तब समझना चाहिए की भक्त का भक्ति में निश्चय दृढ हो गया ।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥ १८ ॥

आत्मरति के अविरुद्धरूप से ऐसा शाण्डिल्य मुनि का मत हैं।

परमप्रेम ही भक्ति का स्वरूप है, पूजा आदि उसका सार सूत्र हैं- साधन हैं, इसकारण जिस प्रकार की पूजा भक्ति आदि में प्रेम की हानि न हो उस पूजा आदि में अनुराग ही अनुकूल साधन है। सांसारिक बोध को छोडकर एक आत्मचैतन्य में ही सकल अस्तित्व की आहुति देकर पूर्णानन्द में मग्न होना ही आत्मरति अथवा परमप्रेम है,

इस आत्मरतिम में जिस प्रकार बाधा नहीं आए तथा जो उपाय आत्मरति के अनुकूल हो उसके द्वारा जिस प्रेममयी वृत्तिका प्रवाह है उसको ही शाण्डिल्य मुनि ने भक्ति माना है।

इसप्रकार पूर्वोक्त लक्षयों में कहने के शैली में भेद दिखाई देने पर भी अर्थ में एकता है। शाण्डिल्य मुनि कह रहे हैं की अनुराग चाहे पूजा आदि साधनों में हो अथवा कथा आदि साधनों में, उस साधन को आत्मरति का विरोध करने वाला नहीं होना चाहिए।

आप भले ही घंटों तक पूजा करें अथवा कथा श्रवण करते रहें परन्तु यदि उसमे कोई रस कोई आनंद नहीं मिला तो यह निश्चित है की आपका निश्चय दृढ नहीं हुआ । जब कथा में, पूजा में रस आने लगेगा तब वह छुड़ाने पर भी नहीं छूट सकते। परन्तु यह भी नहीं होना चाहिए की पूजा कथा ने बाह्य तत्वों जैसे संगीत राग इत्यादि में अधिक रस आने लगे और वह आत्मरति में विघ्न डालने लगे।

सार यह है भगवान् का परमभेम ही भक्ति है और जिसके द्वारा यह परम प्रेम अवाध रूप से प्रकाशित हो, वही उसका साधन है, इस विषय में किसी से मतभेद नहीं है, अत: पूर्वोक्त सब ऋषियों के मत को मागे रखकर देवर्षि नादरजी पुन: कहते हैं, ॥ १८ ॥

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्वी स्मरणे परमव्याकुलतेति ॥१९॥

नारद तो अपने समस्त कर्म भगवान् को अर्पण करने तथा उनके विस्मरण में अत्यन्त व्याकुल होना, ऐसा मानते हैं।

जिस वृत्ति का उदय होने से समस्त कर्म भगवान में अर्पित हो जाएं और उनके विस्मरण में परम व्याकुलता हो जाए वह वृत्ति ही भक्ति है, परमप्रेम ही ऐसी वृत्ति है, समस्त कर्म भगवान् को अर्पित करना ही उसका साधन है।

कर्म दो प्रकार का होता है- लौकिक और पारलौकिक। पारलौकिक कर्म में इतना कर्तव्य है कि समस्त कर्मों को ईश्वरार्थ वा ईश्वर पूजनार्थ समझ कर उसका फल ईश्वर को अर्पित करते हुए कहो कि

प्रातरुत्थाय सायाह्नंसायाह्नात्मा तरन्ततः।
यत्करोमि जगन्नाथ तदेव तव पूजनम्।

प्रातःकाल से उठकर सांयकाल पर्यन्त और सायंकाल से फिर प्रातःकाल पर्यन्त जो कुछ कार्य करता हूँ। हे भगवन् ! वह सब आपका ही पूजन है। मेरे कर्मों में, मेरा, मेरे परिवार, पुत्र अथवा स्त्री का कोई बंटवारा नहीं है, मेरा समस्त भगवन को अर्पण है और इन्ही के दिखाई रक्स्ते पर चलते हुए मैं समस्त कर्मों को करता हूँ।

लौकिक कर्मों यह कर्तव्य है कि-कार्य करते समय यदि भगवान् को भूलकर मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ ऐसा अनुचित अभिमान होने लगे तब 'मैं तेरा तू मेरा ठाकुर' की वृत्ति अपना लो, फिरयदि उनके विरह की पीड़ा से तुम्हारा चित्त परमव्याकुल होने लगे तो समझो, कि परमप्रेमरूपा वृत्ति का उदय हुआ, अर्थात् जब लौकिक पारलौकिक कर्मों की प्रवृत्ति से छुटकर हृदय में भगवद्भाव की वृत्ति का प्रवाह बहने लगे, निरंतर भगवत्प्रेम में चित्त मग्न रहे, और भगवान् का विस्मरण होने पर व्याकुलता बढ़ने लगे तो यह समझना चाहिए कि यह दृढ निश्चय भक्ति का लक्षण है ॥ १९ ॥

अस्त्येवमेवम् ॥ २०॥

यह इस प्रकार ही है ॥

श्री भगवान को समस्त कर्म अर्पण करना और उनके विस्मरण में परमव्याकुलता होने का जो लक्षण बताया गया है वह ठीक ही है।

विस्मरण की विष मरण है। यदि भगवान् को भूलेंगे तो सांसारिक विष बढेगा और विपत्ति की वृद्धि होगी। भगवान् की विस्मृति ही विपत्ति है और भगवान् का स्मरण होते रहना ही संपत्ति है।भगवान् की संपत्ति बनी रहेगी तो तुम्हारा पाप भी पुण्य बन जाएगा और यदि भगवन को भूल गए तो पुण्य भी अहंकार का कारक बन कर पतन का कारण बन जाएगा। और इस कथन के के दृष्टान्त भी हैं, यह केवल कल्पना ही नहीं है॥२०॥

यथा ब्रजगोपिकानाम् ॥२१॥

जैसे ब्रज की गोपियों की अवस्था थी।

नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं, गोप और गोपियां उनकी स्वरूप शक्तियां हैं, राधिका प्रधान गोपी है और सब गोपियां राधिका का कायव्यूह हैं, गोपियों का प्रेम श्रीभगवान की स्वरूप शक्ति की शुद्धसत्व रूप वृत्ति है।, अत: गोपियों के सकल कर्म नित्य भगवान् को अर्पित होते थे। जब रासमण्डल में भगवान ने वंशी बनाकर गोपियों को बुलाया उस समय वह जिस प्रकार समस्त कर्मों को त्याग कर अनन्य भाव से वन में गई, उससे यही पता चलता है कि यह गोपी प्रेम रूपा वृत्ति गोपियों की स्वाभाविक वृति थी ।

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।

शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः॥
ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥
(श्रीमद्भाग० १०।२९।५-८)

कोई गाय दुहने बैठी थी, वंशीध्वनि कान में पड़ी तो बाल्टी वहीं पटककर भागी! दूसरीने दूध चढ़ा तो दिया चूल्हे पर, किन्तु अब उतारनेका स्मरण किसे है ! कोई घर के सदस्यों को भोजन परस रही थी, तो हाथ का भोजन फेंक दिया और दौड़ पड़ी। कोई पुत्र को दूध पिला रही थी, उसने बच्चे को भूमिपर डाल दिया। कोई पति की सेवामें लगी थी, कोई भोजन करने वैठी थी, कोई घर लीप रही थी, कोई बर्तन मल रही थी और कोई नेत्रोंमें अञ्जन लगा रही थी। जिसके हाथ में जो कार्य था उसे उसने वहीं छोड़ा और दौड़ी वंशीध्वनिकी ओर । उन्होंने अपना अर्थ दूध-दही, अपना काम भोजनादि, अपना धर्म पति-पुत्र की सेवा, अपना मोक्ष पति का अनुगमन-सब छोड़ दिया कृष्ण के प्रेम में ।

भगवान् के विरहमें गोपियों का परमव्याकुल होना भी किसी से छुपा नहीं है, भगवान के दर्शन के बिना क्षण भर का समय भी उनको सैंकड़ो युगों के समान मालम होता था, भगवान् को विना देखे जिनको ऐसी व्याकुलता होती थी, उनके विस्मरण होने पर व्याकुलता होने का तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता।
गोपियीं के विषय में श्रीमद भागवत महापुराण में श्री शुकदेव जी कहते हैं:

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥
(श्रीमद्भाग० १०॥३०॥४२)

श्रीकृष्ण में ही मन लगाये, उनकी ही चर्चा करती, उनकी ही चेष्टा का अनुकरण करती वह गोपियाँ उन श्यामसुन्दर में ही चित्त की एकात्मता प्राप्त कर चुकी थी, उन्हीं परमश्रेष्ठ के गुणों का गान कर रही थीं। उन्हें न अपने शरीरकी सुधि थी, न घरों की।

गोपियो के मन में कृष्ण, वाणीमें उन्हींकी चर्चा-दूसरेकी चर्चा नहीं, वे कैसे चलते हैं, कैसे कटाक्षपूर्वक देखते हैं, कैसे मुस्कराते हैं, कैसे खड़े होते हैं । सदैव यही चर्चा, सदैव यही चिन्तन, क्षण भर को भी वह उन्हें भूलती नहीं थीं। स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है :

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थं त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ॥
(श्रीमद्भाग० १०॥४६॥४)

उनका मन-प्राण मुझमें ही लगा रहता है अर्थात् वे चिन्तन केवल मेरा करती है और जीवित मेरे लिए हैं, श्वास मेरे लिए लेती हैं। मेरे लिए देहके सब धर्म--सब सुख उन्होंने छोड़ दिये हैं। मैं ही उनका वल्लभ, प्रियतम एवं आत्मा हूँ और मनसे वे मुझमें ही स्थित हैं।'

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽधितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥
(श्रीमद्भाग० ११।१२।१२)

'जैसे समाधिमें स्थित मुनिको अपना नाम-रूप भूल जाता है, जैसे समुद्र में मिल जानेपर नदीका नाम-रूप नहीं रह जाता, ऐसे ही मुझमें गोपियोंने अपनी बुद्धि ऐसी लगा दी थी कि उनको अपने नाम-रूप-शरीर एवं संसारका ज्ञान ही नहीं था।'

गोपियों ने शास्त्र नहीं पढ़े, किसी गुरुसे दीक्षा नहीं ली, जप-तप करके श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं की। श्रीकृष्णमें प्रेम तो उनका स्वभाव है । इसलिए उद्धवजी कहते हैं:

वन्दे नन्दबजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥
(श्रीमद्भाग० १०।४७।६३)

'नन्दवाबा के ब्रज में रहनेवाली इन गोपियों के चरण रज की मैं बार-बार वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा गायी जाती हरिकथा त्रिभुवनको पवित्र करती है।'

गोपियों यह नहीं मानती कि 'हम उनकी हैं।' गोपियों मानती हैं कि 'श्रीकृष्ण हमारे हैं'। उनके प्रेम में अनन्त रस, असीम तृप्ति, अपार माधुर्य एवं अखण्ड स्मृति है। यही समस्त पुरुषार्थ का फल है। ॥२१॥

न तत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥२२॥

उस दशा में भी माहात्म्य ज्ञान न होने का अपवाद नहीं है ।

कई महात्माओं का यह विश्वास है कि-गोपियों का भगवान में प्रेम तो था, परन्तु वह भगवान के माहात्म्य को नहीं जानती थीं अर्थात् श्रीकृष्ण से प्रेम तो करती थीं परन्तु उनको भगवत दृष्टि से नहीं देखती थीं। इस पर कई आचार्यों का मत है कि यह आवश्यक नहीं है कि अवतार काल में महातम्य का ज्ञान होने पर ही ईश्वर में भक्ति हो यदि ऐसा होगा तो अवतार काल और सामान्य काल में कोई अंतर ही नहीं रह जाएगा । अवतार काल में भगवान् के महातम्य को न जानने पर भी कल्याण होता है, जैसे पूतना, कंस, शिसुपाल आदि का हुआ था। भाव यह है कि ज्ञानियों का कल्याण तो सभी अवस्थाओं में होता है, अवतार काल में तो अज्ञानियों का भी कल्याण भी हो जाता है। तब गोपियाँ जिनकी चित्तवृत्ति श्री कृष्ण में इतनी दृढ थी, उनको भगवान के महातम्य का ज्ञान न हो ऐसा कैसे हो सकता है?

प्रेमका स्वभाव है कि जब वह बढ़ता है तब उसमें प्रियतमकी महिमा भूल जाती है। किन्तु माहात्म्यज्ञानकी यह विस्मृति भक्तके लिए अपवाद-कलङ्ककी बात नहीं है। यह तो भक्तिका भूषण है। व्रजके लोग भी श्रीकृष्णकी महिमाका स्मरण होनेपर उनको हाथ जोड़ते थे। किन्तु स्वयं श्रीकृष्ण उनके प्रेमका आस्वादन करने के लिए माहात्म्यज्ञान विस्मृत करा देते थे। मद्भक्षण लीलामें श्रीकृष्णने जब अपने मुखमें समस्त ब्रह्माण्ड मैया यशोदाको दिखला दिया तब मैया को अपने लालके माहात्म्यका ज्ञान हो गया था। ग्वालबालोंके सम्मुख जब श्रीकृष्णने दावाग्नि-पान किया तव उन्हें भो माहात्म्यज्ञान हो गया था। जब नन्दजीको वरुणलोकसे छुड़ा लानेके पश्चात् व्रजवासियोंको उन्होंने अपने दिव्य धामका दर्शन कराया तो उन्हें भी माहात्म्यज्ञान हो गया था। यदि यह माहात्म्यज्ञान मैयाको, गोपकुमारोंको, वजके लोगोंको बना रहता तो श्रीकृष्णको उनके स्नेह, वात्सल्य, प्रेमका आस्वादन कैसे प्राप्त होता ? फिर तो वे उन्हे सिंहासनपर वैठाकर

पूजा करते, आरती उतारते, स्तुति करते। इसलिए श्रीकृष्णने ही उनके माहात्म्यज्ञानको विस्मृत करा दिया। अतः उनमें माहात्म्यज्ञानको विस्मृति कोई कलङ्ककी बात नहीं है। गोपियोंमें माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका कलङ्क नहीं है, इसका तात्पर्य यहाँ यही है कि उन्हें श्रीकृष्णके माहात्म्यका ज्ञान था । रासलीलामें श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर वे कहती हैं

न खलु गोपिकानन्दलो भवानखिलदेहिनामन्तरात्महक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥
(श्रीमद्भाग० १०॥३१.४)

हे 'श्यामसुन्दर ! तुम गोपीकुमार नहीं हो। तुम तो सम्पूर्ण देहधारियोंके अन्तरात्मा तथा उनके द्रष्टा हो। सखे ! ब्रह्माकी प्रार्थनापर संसारकी रक्षा करने के लिए तुम सात्वककुल में प्रकट हुए हो।'

ध्रुव को भी माहात्यज्ञान नहीं था। भगवान् ने जब अपने ज्ञानमय शंख से उनके कपोल का स्पर्श किया तब उन्हें ज्ञान हुआ। भगवान्के लिए तो अस्ति-नास्ति, चित्-अचित्, सुख-दुःखमें कोई अन्तर है नहीं। उनके लिए यह सभी एकसे हैं। तब ऐसा कैसे हो सकता है कि गोपियोंको श्रीकृष्ण के माहात्म्य का ज्ञान नहीं हो? क्योंकि प्रेम में भी ज्ञान का होना तो आवश्यक है। संसार में जिसे हम उत्तम जानते हैं उसे चाहते हैं, जिसे अनुपयोगी समझते हैं उसकी उपेक्षा करते हैं, जिसे हानिकर समझते है उससे द्वेष करते हैं। हमारे मन का भाव बनने में वस्तु के विषय का ज्ञान ही होता है।

गोपियोंके गुरु तथा परमगति तो श्रीकृष्ण ही है' और गोपियोंको कुरुक्षेत्रमें उन्होंने अध्यात्मज्ञानका उपदेश भी दिया

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः।
तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन्न
(श्रीमद्भाग० १०।८२।४८)

श्रीकृष्णने गोपियों को अध्यात्मतत्त्व का उपदेश किया। उनके स्मरण से गोपियोंका 'जीवकोश' नष्ट हो गया और उन्होंने श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लिया। किन्तु इस उपदेशके पश्चात् भी गिपियों ने कहा:

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
ससारकूपपतितोत्तरणावलम्ब
गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥
(श्रीमद्भाग. १०।८२।४९)

हे कमलनाभ ! अगाधबोध योगेश्वर लोग भी अपने हृदय में आपके जिन चरणकमलों का सदा चिन्तन करते हैं और जो संसारकूप में गिरे प्राणियों के उद्धार के एकमात्र अवलम्ब हैं, वह श्रीचरण हम घर में रहनेवालियों के मनमें सदा प्रत्यक्ष रहें।' गोपियोंका कहना है- 'तत्त्वतः तो हम एक हैं किन्तु जबतक यह मनरूपी भ्रमर जीवित है तबतक यह तुम्हारे चरणकमलोंमें ही निवास करे, उन्हींका रस लेता रहे।'

भक्ति का स्वभाव है कि वह आएगी तो उसके साथ ज्ञान भी आएगा ही। जिससे हम प्रेम करेंगे उसके स्वभाव, गुण, रहस्य का पता हमें

अवश्य लग जायगा। सविशेष के ज्ञान से उसके प्रति प्रेम होता है और प्रेम होने से उसका ज्ञान होता है। भक्ति तथा ज्ञान परस्पर आश्रित हैं। अब यदि यह कहा जाए कि जब प्रेम है तब माहात्म्यज्ञान क्यों आवश्यक है ? तो इसका उत्तर यही है कि माहात्म्य-ज्ञानके बिना जो प्रेम है वह तो इन्द्रिय उपलब्धि पर ही निर्भर है और ऐन्द्रिय ज्ञान से होनेवाला प्रेम तो काम है और वह सर्वत्र विद्यमान है । इसलिए ही कहा गया है:

तविहीनं जाराणामिव ॥ १३ ॥

माहात्म ज्ञान से हीन प्रेम जार- कामियों के समान होता है ।

जहाँ माहात्म्य का ज्ञान नहीं होता वहाँ का प्रेम जारों अर्थात कामी पुरुषों के समान होता है। व्यभिचारिणी स्त्रियाँ कामी पुरुषों से प्रेम करती हैं, परन्तु उनका वह प्रेम लम्बे समय तक नहीं रह सकता, क्योंकि कामी पुरुष साधारण मनुष्य है, साधारण मनुष्य में कुछ माहात्म्य है यह भावना नहीं होती, अतः उसका प्रेम चिरकाल तक नहीं ठहरता क्योंकि इस प्रेम का आधार केवल इन्द्रिय सुख तक ही सीमित रहता है। यह प्रेम नहीं केवल काम है जो इन्द्रिय सुख के साथ समाप्त हो जाता है।

भगवान् के साथ भक्त का ऐसा भाव नहीं होता, भक्त में मन में सदैव यही विचार रहता है की भगवान् से बड़ा कोई नहीं हैं, इसी कारण भक्त हमेशा भगवत चिंतन में मग्न रहता है और भक्त का प्रेम चिरकाल तक रहता है, उसका नाश नहीं होता ॥२३॥

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥ २४ ॥

उस जार के प्रेम में, प्रियतम के सुख से सुखी होना सर्वथा नहीं है॥
महातम्य ज्ञान के बिना होने वाला प्रेम, प्रेम नहीं है केवल भोग है क्योंकि काम में केवल अपना सुख ही अभीष्ट होता है। कामी पुरुष केवल काम के वशीभूत होकर अपना सुख साधने के लिये ही व्यभिचारिणी स्त्रियों में प्रेम भाव देखते हैं, आत्मसुख, आत्मप्रेम से उसका जोई सरोकार नहीं है। यह प्रेम कुछ ऐसा है कि पुष्प अच्छा लगा तो उसे डाल से तोड़ लिया, सूंघा, कुछ देर के लिए अपने शरीर पर धारण किया और अंत में रास्ते पर फ़ेंक दिया।

परन्तु भगवत प्रेम में ऐसा नहीं होता क्योंकि ईश्वर से प्रेम किया जाता है उसकी सेवा करने के लिए। आत्मकाम भगवान् में भी स्वार्थ नहीं है और भगवत प्रेम की कामना करने वाले भक्तों में भी और कोई स्वार्थ नहीं है, भक्त के प्रेम में ही भगवान् सुखी हैं और भगवत प्रेम में ही भक्त सुखी है । ममतारहित शांत भक्त सकल प्राणियों में दयाभाव रखने को ही भगवत प्रेम समझते हैं और ममतायुक्त गौरव भावमय दासभक्त दास्यभाव को ही भगवत प्रेम का सुख प्राप्त करते हैं तथा ममतायुक्त अनुग्रह भावमय वात्सल्य भक्त भगवान की वात्सल्य सेवा को ही भगवत प्रेम मानते हैं और ममतायुक्त अपने सुख के तात्पर्य से रहित तृष्णा वाले कान्ता भक्त कान्त सेवा को ही भगवत्त प्रेम मानते हैं, सार यह है कि भगवत प्रेम में ही समस्त भक्तों की प्राति है।

गोपियों का प्रेम भगवान् श्री कृष्ण को अपने सेवा भाव से सुख देने का था, काम वशीभूत होकर इन्द्रियों को तृप्त करने के, स्वयं सुख भोगने की चाह उनकी नहीं थीं। प्रेम अन्य वस्तु है, और काम अन्य वस्तु है।

मेरे द्वारा दूसरा सुखी हों और दूसरों के द्वारा मैं सुखी होऊँ, ऐसे मनके वेग का नाम प्रेम है और दूसरों द्वारा मुझे सुख मिले, इसका नाम काम है।

गोपियाँ तथा बृजवासी अपने मन, प्राण तक का उपयोग भगवान को सुखी करने के लिए करते थे, भगवान् से कुछ मांगते नहीं थीं। श्री कृष्ण के लिए उनका सर्वस्त्र अर्पण था। भगवान् अपनी वृत्ति से सगुण नहीं है। अपनी वृत्ति से तो वह निर्गुण हैं और केवल भक्त की वृत्ति से सगुण होते हैं। ॥ २४॥

चतुर्थ अनुवाक

सातुकर्मज्ञानयोगेभ्योप्याधिकतरा ॥ २५ ॥

वह परमप्रेमरूपा भक्ति तो कर्म, ज्ञान और योग से भी परमश्रेष्ठ है।

भक्ति भगवान की स्वरूपशक्ति की वृत्ति है। वृत्ति शब्द का अर्थ है क्रिपा, सरूप शक्ति की क्रिया स्वरूपरा शक्ति की ही सम्पत्ति है, इस सम्पति का प्रवाह भगवती गंगा के प्रवाह के समान है। वह निरंतर भक्तिसंप्रदाय में प्रवाहित हो रहा है,जो उसके अनुगामी बनकर भक्ति सम्प्रदाय को चाहते हैं वही उसका लाभ प्राप्त करते हैं। कर्मी, ज्ञानी और योगियों के सम्प्रदाय भक्ति का लाभ प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि भक्ति उन सम्पदार्थों की सम्पत्ति नहीं है ।

कुछ महापुरुष यह भी कह सकते हैं कि ज्ञान भक्ति से बड़ा है क्योंकि महातम्य ज्ञान के बिना प्रेम भक्ति न होकर केवल काम है। परन्तु ऐसा नहीं है, भक्ति माता है तथा ज्ञान और वैराग्य उसके पुत्र हैं। श्रीभगवान कृष्ण उद्धव जी से कहते हैं –

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्तयागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
(श्रीमद् भागवतः ११।१४।२०)

हे उद्धव ! जैसे मुझ में उत्पन्न भक्ति मुझे प्रसन्न करती है वैसे मुझे योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग प्रसन्न नहीं करते मुझे प्राप्त कराने में उतने समर्थ नहीं हैं।

भक्ति रूपा सम्पत्ति तो कर्म-ज्ञान, जप-योग आदि सभी सम्पत्तियों से श्रेष्ठ है। कर्म का फल मुक्ति, ज्ञान का फल मुक्ति और योग का फल सिद्धि है । मुक्ति, मुक्ति और सिद्धि की कामना वालों को शान्ति नहीं होती, भक्ति का फल शान्ति है, भक्त शान्त होते हैं। अष्टावक्र गीता में कहा गया है:

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा।
न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ॥

जिसको भी अपने मुक्त होने का अभिमान है और शरीर में ममत्व भी है, वह न ज्ञानी है न योगी। वह तो केवल दुःख का ही भागी है।

मुक्त पुरुष मुक्तावस्था में भी भगवान् के सगुण रूप की भावना करके उसका भजन करते हैं क्योंकि जब तक शरीर विद्यमान है तब

तक भगवान् की सेवा ही क्यों न कर ली जाए। जब व्यवसाय करने से, नौकरी करने से, मुकदमा करने से ज्ञान दूषित नहीं होता तो भक्ति करने से कैसे हो सकता है। भक्ति करने से यदि ज्ञान बिगड़ जाए तो वह दूर से ही नमस्कार करने योग्य है।

कर्म में, मन्त्र ज्ञान, हवन कुंड, स्त्रुवा, घी तथा अन्य सामग्री अपेक्षित है। ज्ञान में गेय और ज्ञाता का, आत्म तत्व और परमातम तत्व का जानना आवश्यक है। योग में नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि अंगों को पूरा करना पड़ता है परन्तु भक्ति में इनमें से किसी की भी आवश्यकता है। इसलिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं :

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञान ।
जहाँ न राम प्रेम परधान ॥

वह योग योग नहीं कुयोग है और वह ज्ञान, ज्ञान नहीं अज्ञान है जिसमे भक्ति की प्रधानता नहीं है । और भक्ति इस कारण भी सबसे श्रेष्ठ है ॥ २५ ॥

फलरूपलात् ॥ २६ ॥

फल स्वरुपा होने के कारण श्रेष्ठ है।

भक्ति स्वयं फलरूप है, इस कारण सबसे श्रेष्ठ है। ज्ञानाभिमानी कहते हैं, कि भक्ति साधन है और ज्ञानरूप उसका फल है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि श्रीमद भागवत गीता में लिखा है, कि

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

भक्ति के द्वारा वह मुझे, जितना और जो कुछ मैं हूँ, यथार्थ रूप से जान लेता है और फिर मुझे तत्वत: जान कर मृत्यु के बाद मुझ में ही प्रवेश कर जाता है।

श्रीमद भागवत गीता के अध्याय १८ श्लोक ५१-६० में भगवान ने स्पष्ट किया है कि ज्ञान, कर्म और योगरूप साधन से मनुष्य अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध को त्याग कर निर्मल, शान्त, ब्रह्मात्मज्ञान युक्त, परमानन्दपूर्ण होकर शोक कामना आदि से रहित और सब प्राणियों में समदर्शी हो जाता है और भगवानकी पराभक्ति को प्राप्त करता है।

सभी साधनों और साधकों कि यही कामना होती है कि भगवान् की कृपा प्राप्त हो और भगवान की कृपा दृष्टि प्राप्त हुए बिना भक्ति सिद्ध नहीं होती। भक्ति का फल केवल भगवत्प्राप्ति नहीं है। भक्ति का फल भक्ति ही है।

भक्ति करके जो गालोक, साकेत, वैकुण्ठ आदि जाना चाहते हैं उनको तो मुक्ति की कामना है। सालोक्य - भगवानके लोक में जाकर रहना, सामीप्य-भगवान के समीप उनकी माला आभूषण आदि बनकर रहना, सारूप्य-भगवान के समान रूप के होकर उनके पार्षद बनकर रहना, साष्टि-भगवान के समान सृष्टि प्रलयादि की शक्ति प्राप्त कर लेना, सायुज्य-भगवान के श्रीविग्रह में मिल जाना, यह सभी मुक्ति हैं। भक्त इनमें से कुछ नहीं चाहता। वह तो केवल अनन्य भाव से भगवान की सेवा चाहता है। वह दूर रखकर

प्रसन्न हों तो दूर से और निकट रखकर प्रसन्न हों तो निकट रहने के लिए वह प्रस्तुत है। भक्त को इष्ट की प्रसन्नता ही अभीष्ट है । इसी का नाम सेवा है।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।

श्रीकृष्णके अनुकूल होकर उनका चिन्तन करना उत्तम भक्ति है।

श्रुति का वचन है -रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति । 'इस रसको प्राप्त करके ही पुरुष आनन्दी होता है। भक्तके हृदयमें जो आह्लादिनी शक्तिसार-सर्वस्व प्रकट है वह स्वयं फलरूपा है। भक्तिका फल भगवान की प्राप्ति, मुक्ति अथवा समाधि नहीं है। यह सब तो भक्ति के फल हैं। भक्ति का फल यदि भक्तिके अतिरिक्त कुछ अन्य होता तो भक्ति वृक्ष के समान नीरस होती। रस तो वृक्ष में नहीं, फल में होता है; किन्तु भक्ति रसरूपा है। भक्ति हृदय रूपी स्वर्ण को शुद्ध करने के लिए अग्नि है। भक्ति की अग्नि में, भगवान के लिए होनेवाली व्याकुलता में तपे बिना चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है? जो भक्ति के इस सहारे को नहीं पकड़ते वही गिरते हैं। मनुष्य के जीवन की शुद्धता-जीवन की उन्नति अत्यन्त आवश्यक है। इसकारण भक्ति समस्त साधनों का फलरूप होने से सर्वश्रेष्ठ है। ॥२६॥

ईवरस्याप्यभिमानिदेषित्वाद दैन्यप्रियत्वाच २७॥

ईश्वर के भी अभिमान से द्वेष करने और दीनता प्रिय होने के कारण भक्ति श्रेष्ठ है॥

भक्ति में अभिमान नहीं है, अपितु दीनता है। कर्म, योग और ज्ञान के साधनकाल में साधक के चित्त में उन साधनों का अमिमान होने पर उस अमिमानी से परमेश्वर प्रसन्न नहीं होते। परन्तु भक्ति भगवान् की प्रिया है और भक्त पर भगवान् प्रसन्न रहते हैं।

दूसरे साधनों में अभिमान आ जाता है, भगवान् तो एकमात्र दीनों के बंधु, पतितों के उद्धारकर्ता और निर्धनों के सर्वस्वधन हैं, वह अभिमानी कैसे हो सकते हैं, जिनको अपने साधनों का भरोसा है वह दूसरों को क्यों पूछेंगे? जो बालक अपने आप अपनी जीविका कमाने का अनिमानी है उसकी तरफ मातापिताका ध्यान क्यों होगा? जो सेवक अपना निर्वाह स्वयं ही करने का अभिमानी है उसके स्वामी को क्या चिंता? विशेष कर उस परम परमेश्वर सबके स्वामी को सदा दीन ही प्यारे हैं, उसके सामने समस्त साधनों को छोड़ कर अनन्य भाव से कहोगे, कि

सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वतः ।
पापपीनस्य दीनस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ॥

अर्थात हे कृष्ण! मैं सर्वसाधनों से हीन, सर्वथा पराधीन हूँ पापों में फंसा हुआ हूँ और परमदीन हूँ हे नाथ! अब मेरे समक्ष आपके अलावा कोई अन्य साधन नहीं हैं मेरी गति केवल आप ही हैं, तभी वह तुम्हारी और ध्यान देंगे, क्योंकि यही प्रथा है कि-

तेषामहं समुद्धर्त्ता भृत्युसंसारसागरात्।

अर्थात् मैं अपने शरणागतोंको मैं भवसागर से उबारता हूँ।

इसकारण जो दीनमन रखते हैं वही भगवान् के प्रेम को पप्राप्त कर सकते हैं। मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं सिद्ध हूँ, ऐसा समझना ही अहंकारका परिचय देता है। जो भपनेको कर्ता मानते हैं, उनको फिर परमेश्वर को माननेकी भी आवश्यकता नहीं रहती और वह परमेश्वर को भी नहीं मानते, इस कारण वह अवश्य ही भगवान् के द्वेषी हैं।

परन्तु यदि बुद्धिपूर्वक विचार किया जाए तो उस सर्व समर्थ प्रभु के सामने हमारी सत्ता ही क्या है? मनुष्य, अपने धन, कीर्ति, कुटुंब, पद इत्यादि पर अभिमान करता है परन्तु अपनी क्षुद्रता, अपनी दीनता पर विचार नहीं करता और भगवत विमुख रहता है।

सम्पूर्ण देश के मानचित्र में हमारा महानगर एक बिंदु के समान है। पृथ्वीके मानचित्र में हमारा देश बहुत छोटा है। सूर्यमण्डलमें पृथ्वी छोटा-सा ग्रह है। अपनी देवयानी-आकाशगंगा में लगभग तीन अरब सूर्य हैं और उनमें हमारा सूर्य सबसे छोटा है। आकाशगंगा भी सहस्रों-करोड़ों हैं। सूर्यमण्डल में यह पृथ्वी के सरसों के दाने के समान है और आकाशगंगा में सूर्य मण्डल सरसों के दाने जैसा है। जिस भगवान् में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं उनका चिन्तन करो तब तुम्हें अपनी क्षुद्रताका बोध होगा। और प्रतीत होगा कि वह सत्ता, जिस पर तुम्हे इतना अभिमान है वह कितना नगण्य है।

इस प्रकार के ज्ञान से भगवान् में रुचि-प्रीति बढ़ेगी। ईश्वर को अभिमान प्रिय नहीं है। ईश्वर अभिमान का द्वेषी है और उसे दैन्य प्रिय है। इसलिए ईश्वर को भक्ति प्रिय है। श्रीकृष्णने कहा

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजत्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

(गीता १६॥१९)

'संसारमें द्वेष करनेवाले उन नराधमों को मैं बार-बार अशुभ आसुरी योनियों में ही फेंकता हूँ।'

चाखा चाहै प्रेमरस, राखा चाहै मान ।
एक म्यानमें दो खडग, देखे सुनेन कान ।

एक हृदयमें प्रेमका रस और अभिमान ये दोनों नहीं रह सकते।

जो परमेश्वरके विद्वेषी हैं वह उनके प्रियपात्र कमी नहीं हो सकते, किंतु वह असुरों में ही गिने जाते हैं। जो असुर स्वभाव के होते हैं उनके हृदय में ही वैसे अभिमान का उदय होता है, जब तक यह अहंकार नष्ट नहीं होगा तब तक दैव स्वभाव का उदय नहीं होने के कारण परमेश्वर का प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता, दैन्यबुद्धि का उदय होने पर ही अहंकार का विलय होता है। परमेश्वर में पूर्ण आत्मसमर्पण ही, निरेक्षमावहित शरणागति ही अहंकार को नष्ट कर सकती है जो की शुद्धा भक्ति की ही एक अवस्था है, अत: शुद्धा भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है।

तस्य ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ २८॥

जिसका साधन ज्ञान ही है। ऐसा कोई कहते हैं।

किन्ही के मत में ज्ञान ही भक्ति का साधन है परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है यदि केवल ज्ञान ही भक्ति का साधन होता तो:

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जाया: किमु नाम रूपमाधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम् ।
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणेर्भक्तिप्रियो माधव: ॥

व्याधके पास कौन-सा सदाचार था? ध्रुव की क्या अवस्था थी? गजेन्द्र के पास कोन-सी विद्या थी? कुब्जा के पास कौन-सा रूप था? सुदामा के पास कौन-सा धन था? विदुर कौन-से उच्च वर्ण के थे? यादवपति उग्रसेन के पास कौन-सा पौरुष था?

उन्होने केवल भक्तिभाव से सम्पूर्ण रूप से भगवान् के समक्ष समर्पण करके भगवान् को पुकारा ही था और केवल उनकी करुण पुकार सुनकर भगवान् उनके कल्याण के लिए दौड़े चले आए थे और इन्होने भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त किया था

भगवान को प्राप्त पाने के लिये ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह तो केवल भक्ति-भाव से ही प्रसन्न होते हैं ; क्योंकि भगवान् केवल भक्तिप्रिय हैं।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

कुछ अन्य कहते हैं कि ज्ञान और भक्ति परस्पर आश्रित हैं।

जो महात्मा यह कहते हैं की ज्ञान भक्ति के आश्रित है और भक्ति ज्ञान आश्रित, उनका यह विचार भी ठीक नहीं है क्योंकि-भक्ति का उदय हो जाने पर ज्ञान तत्व की जिज्ञासा का उदय ही नहीं होता। तब

इसका क्या अर्थ हुआ की ज्ञान और भक्ति परस्पर आश्रित हैं? इसी ज्ञान और भक्ति के समन्वय को गरुड़ जी को समझाते हुए काकभुशुंडि कहते हैं:

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर।
सावधान सोउ सुनु बिहंगबर॥

भक्ति और ज्ञान में कुछ भी भेद नहीं है। दोनों ही संसार से उत्पन्न क्लेशों को हर लेते हैं। हे नाथ! मुनीश्वर इनमें कुछ अंतर बतलाते हैं। हे पक्षीश्रेष्ठ! उसे सावधान होकर सुनिए॥

भक्ति के बिना मनुष्य का हृदय उसी प्रकार है जैसे बिना पानी का बहुत बड़ा तालाब, भक्ति श्रद्धा की मूल है। बिना भक्ति के किसी के प्रेम को पाना दुर्लभ है। प्रभु को पाने के लिए भी श्रद्धा और भक्ति दोनों की आवश्यकता होती है।

प्रभु प्राप्ति के लिए ज्ञान युक्त भक्ति ही है जो भक्त के हृदय को धीरे-धीरे निर्मल बनाकर प्रभु दर्शन का अधिकारी बना देता है। इसलिए भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद भगवत गीता में कहा है कि भक्तो में मुझे ज्ञानी भक्त ओर भी प्यारा है :

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

उनमें भगवान् में सर्वदा समाधियुक्त रहने वाला तथा एकमात्र उन्ही में भक्ति रखने वाला तत्वज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है। क्योंकि मुझे तत्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

श्रेष्ठ तो मेरे सभी भक्त हैं। परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है- ऐसा मेरा मत है क्योंकि उसका चित्त मुझमें ही समाहित है और वह मुझे ही अपनी सर्वश्रेष्ठ गति मानता है।

ऐसा होने पर भी भक्ति को ज्ञान से उच्च कोटि पर रखा जाता है क्योंकि भक्ति सीधे भगवद् प्राप्ति करा सकती है। भक्ति से साधक या भक्त अपने उपास्य का स्वरूप, स्वभाव और प्रभाव को जान लेता है। भक्ति भगवत् को प्राप्त होने से पूर्व प्रारंभ होती है और भगवत् प्राप्ति के बाद भी सतत् चलती रहती है और भक्ति ही वह स्थिति है जो साधक को एकरस कर भव बंधन से मुक्त कर देती॥ २६ ॥

स्वयं फलरूपतति ब्रह्मकुमाराः॥३०॥

भक्ति स्वयं फलरूपा है, ऐसा ब्रह्माजी के पुत्र - सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार मानते हैं।

सनत्कुमार का मत ही नारदजी का मत है; क्योंकि नारदजी सनत्कुमार के शिष्य हैं। जब देवर्षि समस्त वेद-वेदाङ्ग, शास्त्र-

पुराणादि पढ़ चुके तो सनत्कुमारके समीप जाकर उन्होंने प्रार्थना की--

सोऽहं मन्त्रविडेवास्मितं मां शोकस्य परं पारं दर्शयतु भगवान् ।
हे भगवन्! मैं केवल शास्त्रोंका ज्ञाता हूँ। परमार्थतत्त्व को नहीं जानता हूँ। अतः आप मुझे शोकके परम पार पहुँचाने की कृपा करें।

तब सनत्कुमार ने नारदको उपदेश दिया। श्रीमद्भागवतकी सप्ताह-अनुष्ठानविधि भी सनत्कुमार ने ही नारदजी को बताई थी। अतः देवर्षि नारद स्वयं अपना नाम न लेकर अपने गुरु तथा बड़े भाइयों के साथ अपने मत को मिलाकर यह मत उद्धृत कर रहे हैं कि-भक्ति स्वयं ही फल है भौर स्वयं ही उस फल का साधन है। नित्य सिद्ध भगवान के प्रेमरूप भक्ति का कोई अन्य साधन है ही नहीं।

भक्ति साधन तथा साध्य दोनों है। साधक, साधन में ही जब रस लेने लगता है, उसके फलों की ओर से उदासीन हो जाता है। यही साधन का साध्य बन जाता है। पर प्रत्येक साधन का अपना पृथक् फल भी है। भक्ति भी साधक को पूर्ण स्वाधीनता, पवित्रता, एकत्वभावना तथा प्रभुप्राप्ति जैसे मधुर फल देती है। प्रभुप्राप्ति का अर्थ जीव की समाप्ति नहीं है, सयुजा और सखाभाव से प्रभु में अवस्थित होकर आनन्द का उपभोग करना है।

जिस प्रकार अग्नि के पास जाकर शीत की निवृत्ति तथा उष्णता का अनुभव होता है, उसी प्रकार प्रभु के पास पहुँचकर दुःख की निवृत्ति तथा आनन्द की उपलब्धि होती है। 'परमेश्वर के समीप होने से सब दोष दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। परमेश्वर की स्तुति,

प्रार्थना तथा उपासना से आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी वह नहीं घबराएगा और सबको सहन कर सकेगा।

भगवान को प्राप्त करने का उपाय भक्ति ही है। ईश्वर को किसी साधन के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। जो सच्चे मन से भगवान की भक्ति करता है उसे प्रभु दर्शन जरूर देते हैं साथ ही भक्त के कष्टों का निवारण भी करते हैं। भक्त ध्रुव छोटी सी उम्र में ही भगवान को पाने का निश्चय कर लिया था। वह बिना किसी भय के जंगल में तपस्या करने के लिए निकल गए। भगवान ने उनकी भक्ति देखी तो प्रसन्न हो गए और उन्हें सबसे ऊंचा स्थान दिया। अत: भक्ति स्वयं ही फलरूपा है॥ ३०॥

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥३१ ॥

राजभवन और भोजन आदि में ऐसा ही देखे जाने के कारण ।

यदि आपने राजा के विषय में अधयन्न किया है, आपको राजा के पूरे चरित, गुण अवगुण आदि का ज्ञान है परन्तु यदि आप राजा से मिलने की चेष्टा नहीं करेंगे तो आपका वह ज्ञान उसी प्रकार अधूरा होगा जैसे भोजन के विषय में सब कुछ जान लेने पर भी भोजन किए बिना भूख नहीं मिटती। आप राजा को जानते हैं आपको राजा के विषय में ज्ञान भी है परन्तु यदि राजा आपको नहीं जानते तो वह ज्ञान राजा का दर्शन प्राप्त करने में उचित साधन नहीं है।

नियम यह है की जहाँ जहाँ सविशेष ज्ञान है वहां वहां केवल ज्ञान मात्र से उस वस्तु की प्रप्ति नहीं होती। उसके विषय में ज्ञान प्राप्त

कर लेने से अप्राप्ति का भ्रम तो दूर हो सकता है परन्तु उस वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

न तेन राज परितोष: क्षुधाशान्तिर्वा ॥३२॥

उससे न राजा प्रसन्न होता है और न ही क्षुधा की निर्वृत्ति होती है।

परन्तु यदि आपको राजा के विषय में ज्ञान हो या न हो, आप उनकी स्तुति, सेवा, अर्पण इत्यादि करें तो उनका प्रसन्न होकर आपसे मिलना संभव हो सकता है। ठीक उसी प्रकार जैसे आपको भोजन बनाने की विधि का ज्ञान हो या न हो, भोजन करने पर क्षुधा की निर्वृति भी होगी और तृप्ति भी मिलेगी ।

तात्पर्य यह है की सगुण साकार के क्षेत्र में केवल ज्ञान से कोई लाभ नहीं है, भगवान् की भक्ति आवश्यक है।

अत: भक्ति ज्ञान का फलरूप नहीं है, अत: केवल ज्ञान से भगवान के स्वरूप को जान लेने मात्र से जीव का कर्त्तव्य सिद्ध नहीं होता, भगवान् की भक्ति करना आवश्यक है ॥३२॥

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥३३॥

अत: जो संसार के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें भक्ति का ही आश्रय लेना चाहिए।

इसलिए सभी प्रकार की उपाधियों से मुक्ति चाहने वालो को भक्ति का ही आश्रय करना चाहिये । तात्पर्य यह है, श्री नारद जी ने अनेकों

प्रकार से विचार कारके यह सिद्धांत निश्चित किया कि कर्म, योग और ज्ञान मुक्ति का साधन होने पर भी उनमें अनेकों विघ्न उपस्थित होना संभव है। मुक्ति प्राप्त करने के लिये, भगवान् का दर्शन करने के लिये भक्ति ही निर्मल मार्ग है। मुक्तिभक्तिका मुख्य फल नहीं है, किंतु भक्ति साधनाके मार्ग में आगे बढने पर मार्ग में मुक्ति अपने आप प्राप्त हो जाती है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार की उपाधि से मुक्ति पाने के लिये मुमुक्षु को पृथक् साधन नहीं करना पडता है, भक्ति ही समस्त परमार्थ की प्रदात्री है ॥ ३३ ॥

पञ्चम अनुवाक

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ ३४ ॥

आचार्य उस भक्ति के साधनों का गान करते हैं।

हृदय में जो सुख दुखादी की संवेदना होती है उसके उदगार का नाम गान है। यद्यपि प्रेम नित्यसिद्ध है, उसका कोई कारण नहीं है तथापि प्रेमभक्ति को प्राप्त करने के लिए उपाय स्वरूप का उपदेश करने के लिए आचार्य गान करते हैं। आचार्य भक्ति के परम प्रेमी हैं अत: वह भक्ति के विषय में बोलते बोलते गान करने लगते हैं ॥६४॥

तनु विषयत्यागात सङ्गत्यागाच्च ॥३५॥

वह प्रेम तो विषयों के त्याग से और आसक्ति के त्याग से प्राप्त होता है ॥

विषयभोग त्याग और विषयासक्ति को त्यागना बडा ही कठिन है, किसी प्रकार विषय छूट भी जाय तो विषयोंका संग नहीं छूटता। विषयों की ओर आकर्षण बड़ा ही प्रबल है, मौका मिलते ही वह विषयों की और खींचता है।

यम नियम आदि के अभ्यास और वैराग्य के द्वारा धीरे धीरे विषय और विषयों के संग का त्याग किया जा सकता है। परंतु विषय और विषयों के संगको छोड़ने का एक सहज उपाय भगवान् में भक्ति करना है, ऐसा करने से ही विषयों से वैराग्य और निःसंगता होकर परम प्रेमरूपा भक्ति सिद्धि होती है।

ऐसा विचार करना चाहिए कि भगवान् के अतिरिक्त समस्त संसार ही विषय है और बंधन का हेतु है इसलिए उसका त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार से यह समझना चाहिए की भगवतभक्तों के संग को छोड़ कर अन्य समस्त संग त्याज्य हैं।॥३५॥

अव्यावृतमजनात् ॥ ३६ ॥

अहर्निश भजन करने से ।

निरंतर भगवान का मनन अर्थात् भगवान् के गुण नाम आदिका श्रवण, कीर्तन भौर स्मरण करना चाहिये, क्योंकि भजन से अवकाश पाते ही मन सत्वगुण से निकल कर रजोगुण और तमोगुण की ओर आकर्षित होने लगता है। भजन करते समय विषय चिन्ता मन को भुला देती है, इसलिये निरंतर भजन करना चाहिए। निरंतर मनन करने से उसमें वृत्ति स्थिर हो जाती है, तब आपने आप ही विषय और

उनका संग छूटकर इंद्रियों सहित मन भगवान् के चरणों में जा लगता है और चित्त शुद्ध हो जाता है।

इसी कारण श्रीवल्लभाचार्य जी ने कहा है-

स्मात्सर्वात्मना नित्य: श्रीकृष्ण: शरणं मम।
वददिभरेव सततं स्थेयमित्येव मे मति:॥

सब प्रकार की चिन्ताओं से बचने के लिये सदैव सर्वात्मभाव सहित "श्रीकृष्ण: शरणं मम" का जाप करना चाहिए अथवा सदैव अष्टाक्षर जप करने वाले भगवदीयों की संगति में रहना यही मेरा मत है।

जो मनुष्य सदैव भगवान् के नाम जप, नाम स्मरण में लगा रहता है उसे इस लोक में आनंद और यस लोक छूटने के बाद बैकुंठ की प्रप्ति होती है।

श्रीकृष्ण: कृष्ण कृष्णेति कृष्ण नाम सदा जपेत।
आनन्द: परमानन्दौ बैकुंठम तस्य निश्चितम॥

जो प्राणी सदा श्रीकृष्ण भगवान के नाम का स्मरण करता है,उसको इस लोक में आनन्द तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है। और अवश्य बैकुण्ठ धाम की प्राप्ति होती है।
इसलिए श्रवण कीर्तन आदि के द्वारा सदा भगवान् का भजन करना चाहिए। जिस प्रकार नित्य भोजन आदि के लिए समय निकाला ही जाता है चाहे व्यक्ति कितना भी व्यस्त क्यों न हो उसी प्रकार भले ही थोड़ी देर ही परन्तु भजन निरंतर करना चाहिए। भजन का अर्थ यह भी नहीं है की लौकिक व्यवहारों को त्याग दो और केवल भजन

करते रहो कितु अपने शरीर का निर्वाह करने हेतु निर्वाहक लौशिक व्यवहार करते हुए जब भी उनसे अवसर पायो तब और कोई व्यर्थ काम न करके भगवान् का भजन करो, क्योंकि रन्तर भगवत्स्मरण से चित्तशुद्धि होकर भक्ति प्रकट होती है, तभी तो चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि:

चेतोदर्पणमार्जनं भव-महादावाग्नि-निर्वापणम् श्रेयः-
कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधू-जीवनम् ।
आनंदाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्सर्वात्मस्नपनं परं
विजयते श्रीकृष्ण-संकीर्तनम् ॥

चित्त रूपी दर्पण को स्वच्छ करने वाले, भव रूपी महान अग्नि को शांत करने वाले, चन्द्र किरणों के समान श्रेष्ठ, विद्या रूपी वधु के जीवन स्वरुप, आनंद सागर में वृद्धि करने वाले, प्रत्येक शब्द में पूर्ण अमृत के समान सरस, सभी को पवित्र करने वाले श्रीकृष्ण कीर्तन की उच्चतम विजय हो।

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥३७॥

लोक व्यवहार में भी भगवान् के गुणों का श्रवण और कीर्तन करन से।

जब तक संसार के विषयों और व्यक्तियों में आसक्ति रहेगी, तब भजन में मन नहीं लगेगा। लोक व्यव्हार में संलग्न मनुष्य के मन में संसार के प्रति इतना वैराग्य और भगवान् के प्रति इतना प्रेम भी नहीं उपजेगा कि मन चौबीस घंटे उसमें ही लगा रहे। तब ऐसा क्या उपाय होगा जिससे लोक व्यव्हार में रहते हुए भी भक्ति की जा सके?

इसी दुविधा का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जब तक निरन्तर भगवद् मन करने का सामर्थ्य न हो जाए तब तक लोक व्यवहार से अवकाश मिलने पर भगवत भक्तों के समीए बैठ कर भगवान की कथाओं का श्रवण और कीर्तन करें, क्योंकि इस कराल कलिकाल में भगवान् नाम कीर्तन ही मुख्य धर्म है, इस युगमें नामसंकीर्तन से ही पुरुषार्थ की सिद्धि हो सकती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है :

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥

अर्थात सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में जो गति पूजा, यज्ञ और योग से प्राप्त होती है, वही गति कलियुग में लोग केवल भगवान का नाम लेने से प्राप्त हो जाती है॥

कलियुग में भगवान् नाम का विशेष प्रभाव है, इस युग में ध्यान यज्ञ और पूजा है ही नहीं क्योंकि मन स्थिर नहीं रहता, वासनाओं से सदा चंचल बना रहता है, व्यापारियों के पाप और अधम की कमी से यज्ञ होते हैं, चर्बी और वनस्पति मिले घी से आहूति डाली जाती है और रंग में डूबी हुई केसर मिलती है, हवं सामग्री, समिधा सभी अपवित्र हैं। अत: भगवान् नाम के अतिरिक कोई एनी उपाय हैं ही नहीं। इसी उपाय से भगवान् ने कृपा करके नाम में अनकों प्रकारसे अपनी शक्तियों को स्थित कर दिया है और इसी कारण भगवान् की कथा का श्रवण कीर्तन करते करते चित्त कर्म से भगवान् की ओर को खिचने लगता है। मनुष्य जब भगवान् का गुणानुवाद सुनता है तब भगवान् स्वयं उसके ह्रदय में स्थित हो जाते हैं।

इस प्रकार संसार का व्यवहार करते हुए, घर समाज में रहते हुए भगवान् के गुणों , भगवन की कथा का श्रवण करते हुए श्रद्धा से प्रयत्न पूर्वक कीर्तन होता रहेगा तो भगवत भक्ति स्वत: ही प्राप्त हो जाएगी

मुख्यतस्तु महत्कृत्पयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥३८॥

मुख्य रूप से तो महात्माजनों की कृपा से ही प्राप्त होती है अथवा भगवान की कृपा के लेशमात्र से ।

यद्यपि पूर्वोक्त साधनों से भक्ति का आविर्भाव होता है, परन्तु महात्माओं की कृपा अथवा श्रीभगवान् की कृपा का लेशमात्र ही भक्ति प्राप्त करने का मुख्य उपाय है क्योंकि समाज व्यवहार में रहते हुए भगवद्गुणानुवाद के श्रवण तथा कीर्तनमें श्रद्धा एवं रुचि भी स्वतः नहीं हुआ करती, वह भी सत्पुरुषों के संग तथा उनकी कृपा से ही होती है।

भगवान की कृपा भक्त की कृपा के पीछे पीछे चलती है, जिसके ऊपर भक्त की कृपा होती है, उसके ऊपर भगवान् भी दया करते हैं, भगवान की दया होने पर प्रेम अलभ्य नहीं रहता, उनकी स्वरूपशक्ति के वृत्तिरूप प्रेम स्वरूप शक्ति में से जीवशक्तिों को गंगा के प्रवाह के समान बहाने लगता है, इसकारण महामत्माओं की दया होनेपर प्रेम सुलभ है। जिस प्रकार धन की चाह रखने वाले प्राणी को केवल धनवान ही धन प्राप्त करवा सकता है, उसी प्रकार प्रेमी ही प्रेम को सुलभ करवा सकता है। जड़भारत ने रजा अहुगन को उपदेश देते हुए कहा था

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा । नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यविना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥
(श्रीमद्भाग० ५।१२।१२)

हे रहूगण ! यह न तपस्या से प्राप्त होता, न यज्ञ करने से। घर-द्वार का त्याग करने से भी नहीं और वेदाध्ययन से भी नहीं। जल, अग्नि, सूर्य आदि किसी देवता की आराधना से नहीं। महापुरुषोंकी चरणधूलिमें लोटपोट हुए बिना यह प्राप्त नहीं होता।

महापुरुषकी कृपा-प्राप्ति सुलभ है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष हैं। उन महापुरुषों में से किसी के चित्त में करुणा आ गयी कि यह जन्म-मरण तथा संसारके दुःखमें फंसा प्राणी है। इसका जीवन नष्ट हो रहा है। यह देखकर महापुरुष दयालु हो जायँ और वह कृपा करके हमें भगवान् के सम्मुख कर दें तब भगवान् की भक्ति, उनकी सेवा प्राप्त हो ।

इन्द्रपुत्र जयन्त की कथा 'रामचरितमानस में' आती है। वह श्रीराम के बल की परीक्षा करने गया था। श्रीराम उस समय स्फटिक-शिला पर श्रीजानकी की गोद में सिर रखकर सो रहे थे। कौवे का रूप बनाकर जयन्त आया और उसने पंजे तथा चोंच से श्री सीताजी पर चोट की। श्रीजानकी के शरीर से रक्त के बिंदु गिरे तो श्रीराम जाग उठे। उन्होंने उस काक के ऊपर ब्रह्मास्त्र का मन्त्र पढ़कर एक तिनके को बाणकी भाँति फेंक दिया। वह बाण कौवे के पीछे लग गया। जयन्त अपना रूप बनाकर अपने पिता इन्द्रके पास गया, ब्रह्माजीके पास गया, कैलासमें शंकरजीके पास गया, किन्तु किसीने उसे शरण नहीं दी।

व्याकुल जयन्त भागा जा रहा था कि देवर्षि नारद की उसपर दृष्टि पड़ गयी। उसकी अवस्था देखकर देवर्षि को दया आ गयी। उन्होंने उसे श्रीराम की ही शरण में जानेका उपदेश दिया। भय से व्याकुल जयन्त श्रीरामके चरणोंके समीप आकर 'त्राहि ! त्राहि !' करता हुआ जब गिरा, तब भी भयसे अपने पीछे आते ब्रह्मास्त्र को ही देख रहा था। इसलिए जब वह गिरकर मूर्छित हुआ तो उसका मुख पीछे और पैर श्रीराम की ओर थे। वह विमुख था, अतः श्रीराम चुपचाप देखते रह गये। पर दयामयी श्रीजगन्माता जानकीकी दृष्टि पड़ गयी जयन्त पर। उन्होंने उठकर उसे उठाया और उसका सिर प्रभु के चरणोंपर रख दिया। तब प्रभुने उसपर कृपा की।

इसी प्रकार जब महापुरुष संसारी प्राणी को दुखी देखते हैं तब उन्हें दया आ ही जाती है। भक्त के हृदय में सदा भाव रुपी चन्द्र का उदय रहता है। जिसकी चांदनी से उसके सामने आने वाले का हृदय शुद्ध हो जाता और चित्तमें स्थिरता आ जाती है।

कभी कभी जीवों को साक्षात् भगवान की कृपा से भी प्रेमलाभ होता है, परन्तु यह बात भगवान के अवतारकाल में ही हो सकती है और समय भक्तोंके द्वारा ही भगवान की कृपा का लाभ होता है। भगवान की कृपा तो अनन्त, अपार है। भगवान की समस्त शक्तियों में उनकी कृपाशक्ति सर्वोपरि है। जैसे सूर्य प्रकाश देने के लिए कोई प्रयास नहीं करता, प्रकाश करना उसका स्वभाव ही है, वैसे ही भगवान का स्वरूप कृपा करना है।

परन्तु कुछ मनुष्य यह समझते ही नहीं की उनका जीवन यापन भी केवल भगवान् की कृपा से चल रहा है। उलटे वह भगवान् को ही दोष देते हैं और कहते हैं कि भगवान् की कृपा यदि हम पर है, तो हमें पता क्यों नहीं चलता? तो इसका उत्तर यह है कि यदि हम ईश्वर की कृपा का अनुभव नहीं करते तो इसमें ईश्वर का क्या दोष है ? ईश्वरकी कृपा तो तुमपर सदा-सर्वदा है किन्तु तुम उसपर ध्यान नहीं देते।

नोलूको व्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूपणम् ?
पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम् ?

यदि उल्लू को दिन में दिखाई नहीं पड़ता तो इसमें सूर्य का क्या दोष है ? सूर्य ने अपना प्रकाश तो सबके लिए उन्मुक्त कर रखा है। यदि वसन्त ऋतु आने पर भी करीर की झाड़ीमें पत्ते नहीं आते तो इसमें वसन्त ऋतुका दोष कहाँ है ? यह तो करीर की त्रुटि है कि उसमें पत्ते देने की योग्यता ही नहीं है।'

भगवान की कृपा हमारे समीप भगवन नाम बनकर, भगवान् की मूर्ती बनकर, भगवत् कथा बनकर और महापुरुषका संग बनकर आती है। परन्तु यदि मनुष्य इन सब से विमुख होकर बैठा रहे तो कृपा की अनुभूति किस प्रकार। स्वयं भगवान् कहते हैं---

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त न दक्षिणा ॥
ब्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥

मुझे योग, ज्ञान अथवा धर्म अपनेमें रोक नहीं पाता। न जप, न तपस्या या त्याग, न इष्ट और न पूर्त मुझे रोक पाते हैं। व्रत, यज्ञ, वेदाध्ययन, तीर्थाटन और यम-नियमके पालन से मैं उतना वश में नहीं होता जैसा कि सब आसक्तियों को दूर करनेवाले सत्संगसे मैं वशमें हो जाता हूँ।'

इस कारण ही कहा गया है महापुरुष का संग प्राप्त होने पर भक्ति प्राप्त होती है अथवा भगवान की अहैतु की कृपा जो समस्त प्राणियोंपर निरन्तर वर्षा के समान झर रही है, उसका लेशमात्र भी यदि हम पर पड़ जाए तो हमारे हृदय में भक्ति आ सकती है।

महलङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥३९॥

महात्माओं का संग दुर्लभ, अगम्य- जान लेने में कठिन और अमोघ- व्यर्थ न जाने वाला होता है।

महात्माओं का संग होए तो उनकी कृपा हो सकती है, परन्तु उनका संग होना बड़ा दुर्लभ है, वह हमारे चाहने पर नहीं हो सकता, क्योंकि वह कामना और स्वार्थ रहित होते हैं उनका संग होने का उनकी इच्छा के सिवाय और कोई उपाय नहीं है, उनकी ऐसी इच्छा होने का कारण भी साधारण पुरुषों की समझ में नहीं आ सकता, केवल सौभाग्य के कारण ही उनका दर्शन होता है और यदि महात्मा प्राप्त भी हो जाएं तब भी अपने ही मन में मलिनता के कारण उनको पहचाना नहीं जाता।

इसलिए महापुरुषों का मिलना कठिन नहीं है कि महापुरुष संसार में हैं नहीं। उनको ढूँढ़ने कहीं किसी अगम्य स्थानों में जाना भी

आवश्यक नहीं है। महापुरुष तो समाज में और हमारे-आपके आस पास ही हैं। फिर भी उनका मिलना कठिन इसलिए है कि

पापी सर्वत्र पापमाशङ्कते ॥

पापी पुरुष का स्वभाव है कि वह सर्वत्र सब में पाप को ही शंका करता है। शंका करने का कारण समाज भी है और वर्तमान समय में अनेक रूप धारण करने वाले मायावी तथाकथित महात्मा भी। संसार में सभी सब महात्मा नहीं होते। अधिकतर महात्मा का रूप धारण किव हुए सांसारिक विषयों में आसक्त मनुष्य ही मिलते हैं। अतः महात्माका मिलना कठिन है। कहीं मिलते भी हैं तो उनको पहचानना अत्यंत कठिन होता है। वह ऐसे-ऐसे ढंग से रहते हैं कि मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है।

क्वचिच्छिष्टाः कचिद् भ्रष्टाः क्वचिद् भूतपिशाचवत् ।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥

कहीं सभ्य-शिष्ट रूप में, कहीं अपने को आचार-भ्रष्ट दिखलाते हुए, कहीं भूत-प्रेत के समान उन्मत्त बने, इस प्रकार नाना रूप बनाकर वह महापुरुष पृथ्वी पर घूमते हैं।

इसकारण महात्मा हत पुरुषों का संग दुर्लभ है, परन्तु एक वार यदि किसी प्रकार संग हुआ तो वह वह निष्फल नहीं जाता, अपने अधिकार के अनुसार संगति का फल अवश्य ही मिलता है, इस कारण वह अमोघ है।

लभ्यतेपि तत्कृपयैव ॥४०॥

भगवान के दया के कारण ही संतों से मिलन प्राप्त होता है।

श्री भगवन जिसके ऊपर दया करना चाहते हैं, उसी समय वह किसी साधु के मन बैठकर उसको साधक के पास भेज देते हैं। वह अपने भावसे जिस को रंगदेते हैं, दया करके जिसके हृदय के पट खोल देते हैं, उसको ही भगवान के भेजे हुए साधुका दर्शन और संग होता है। वराहोपनिषत् में लिखा है

यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः॥
खेचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविद्दृष्टिगोचराः।
सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरथैः ॥

जिसकी अनुभवपर्यन्त बुद्धि तत्त्व में ही स्थित है उस संत की जिस-जिस पर दृष्टि पड़ जाती है वह सभी समस्त पातकों से मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्मवेत्ता संत की दृष्टि पड़ने पर तो सभी खेचर-भूचर-स्थावर वृक्षादि भी करोड़ों जन्मों से अर्जित अघराशि से मुक्त हो जाते हैं; फिर जिन्होंने उन महात्मा की शरण ली है उनके मुक्त होने में क्या सन्देह है। ॥४०॥

तस्मिंस्तज्जने सेदाभावात् ॥४१॥

भगवान् में तथा उनके भक्त में कोई भेद नहीं है ॥४१॥

श्री भगवान और उनके भक्तों में कोई भेद नहीं है, इसी कारण भगवान् की इच्छा में ही भक्त की इच्छा होती है, इसी से भगवान्

जिसके ऊपर दया करना चाहते हैं, उसको अपना निदर्शन रूप साधु का संग देते हैं, भगवान् की दया का भी समय है, जब किसी जीव का हृदय आत्मप्रशंसा रहित होता है। जब आत्मग्लानि का अनुभव करता, अपने आप को तुच्छ समझने लगता है, तभी उसके ऊपर भगवान की दया का प्रकाश होता है, वह आत्मग्लानि जब शास्त्रीय श्रद्धा के साथ दीनता के रूप में आजाती है, उसी समय वह दया साधु संग के स्वरूप में प्रकाशित होती है, साधु को देखते ही भगवान् का स्मरण होता है, भक्त की भावना के अनुसार उनकी प्रतीति होती है, भक्त उनमें और वह भक्त के हृदयम रहते हैं, इस कारण दोनो में भेद नहीं है।

महाभारत में एक कथा है कि एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर रात्रि में श्रीकृष्ण के शिविर में गए ये तो उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण आसन लगाये शय्यापर ही स्थिर होकर ध्यानस्थ बैठे हैं। कुछ देर युधिष्ठिर चुपचाप खड़े रहे। श्रीकृष्ण का ध्यान जब समाप्त हो गया तब उन्होंने पूछा -'आप इतनी तन्मयतापूर्वक किसका ध्यान कर रहे थे ? आप तो साक्षात् परब्रह्म हैं । आपके लिए ध्येय वस्तु क्या है ? तब श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया- शर शय्या पर पड़े पितामह भीष्म मेरा ध्यान कर रहे हैं । इसलिए मैं उन गंगा-नन्दनका ध्यान कर रहा था।' भगवान् ने कहा है:

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥
(श्रीमद्भाग० ९।४।६८)

'साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूँ। वह मुझे छोड़कर और कुछ नहीं जानते और मैं भी उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता।

परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि नारद जी जब 'साधु सन्त' अथवा 'महात्मा' शब्द का उपयोग करते हैं तब वह किसी विशेष वेश को धारण करनेवाले अथवा विशेष पंथ विशेष के लिए इन शब्दों का प्रयोग नहीं करते हैं। नारद जी महान् परमात्मा में अपने सर्वस्व को समर्पित करनेवाले, भगवत पारायण को साधु-सन्त या महात्मा कहते हैं। ॥४१॥

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥

अत: उस प्रेम की साधना करो, उस प्रेम को ही साधन बना लो ॥४२॥

नारदजी भक्ति को पाने का कोई अन्य उपाय न देखकर, और किसी अन्य चातुर्य से जीव की गति होती न समझकर, भक्ति को ही साधन समुद्र का एकमात्र अमूल्य रत्न है, इस यथार्थ का तपोवन से अनुभव करके जीव के कल्याण के लिये ऊपर को भुजा उठाकर मुक्त कंठ से कहते हैं, कि हे जीव भगवद्भक्ति के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, केवल उसकी ही साधना करो। महापुरुष मिल जाएं तो उनमे श्रद्धा करो और उनके उपदेश-आदेश का पालन करो। भक्ति ही साध्य है और भक्ति ही साधना है। ॥४२॥

षष्ठ अनुवाक

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

कुसंग सर्वथा, सभी प्रकार से त्याग देने योग्य है।

भक्ति को प्राप्त करने की कामना हो तो पहले दुःसंग का त्याग करो। विषयों में आसक्त पुरुषों के संग को दुःसंग कहते हैं। संग होने पर एक को गुण दोष दूसरे में आते हैं, विषयासक्त पुरुष के संग विषय के सुखदायकपन गुण का ध्यान होते ही विषयों में आसक्ति होने लगती है, विषयासक्त पुरुष किसी प्रकार विषय को छोड़ देने पर भी विषयों की तृष्णा से छुटकारा नहीं पा सकता, इसकारण विषय तृष्णा के मूल दुःसङ्ग को प्रयत्न करके त्याग देना चाहिये। श्रीमद भगवत गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है:

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न से सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
(गीता १६॥२३)

जो शास्त्रीय विधिका त्याग करके कामनाके अनुसार आचरण करता है वह न सफलता पाता है, न सुख पाता है और न उत्तम गति ही प्राप्त ही करता है।

हमारे भीतर बैठा काम हमें वाह्य वस्तुओं में लगाता है। इसलिए हमारा जीवन शास्त्रीय जोवन-बौद्धिक जीवन-विवेकी जीवन नहीं रहा है। हमारा जीवन ऐन्द्रिय जीवन बन गया है। ऐन्द्रिय जीवन में 'जैसा संग, वैसा रंग।' जैसे लोगों का साथ करोगे, तुम्हारे जीवन पर

भी वैसा ही रंग चढ़ेगा। अतः यदि जीवन को सुधारना चाहते हो तो संगको सुधारो। जो लोग तुम्हें भोगकी
ओर ले जायँ उनका संग मत करो।

चाहे कोई बहुत पक्के सदाचारी, उच्च समाधिसिद्ध योगी, श्रेष्ठ उपदेशक, तत्त्वज्ञानी हों; किन्तु यदि वह तुम्हारे साधन-भजन का खण्डन करते हैं तो उनका संग दुःसंग ही है । उसे सत्संग मानकर उनके पास नहीं जाना चाहिए।

इस प्रकार किसी देश में, किसी काल में, किसी भी रूप में यदि दुःसंग मिलता हो तो उसका त्याग करना ही उचित है। ॥४३॥

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥४४॥

काम, क्रोध, मोह, स्मृतिनामा, बुद्धिनाश और सर्वनाशका कारण होने से।

कुसंगी विषयासक्त मनुष्यों की संगति और उनके व्यवहार को देखने से काम अर्थात विषयों के भोग की अभिलाषा होती है, किसी कारण से उस विषयभोग की तृप्ति में वाधा पड़ेने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध का उदय होते ही चित्त चंचल होकर भले बुरे के विचार से हनितारूप मूढता अथवा मोह उत्पन्न हो जाता है, मोह होते ही चित्त अज्ञान रुपी अन्धकार से ढक जाता है, चित्त में स्थित संस्कारों का विस्मरण हो जाता है, तब अपने कल्याण साधन के उपाय रूप इन्द्रियों को जीतने की चेष्टा और उसके अनुसंधान का भी ध्यान नहीं

रहता इस स्मृतिनाश के साथ साथ बुद्धि भी ठिकाने पर नहीं रहती, मनुष्य कुछ का कुछ करने लगता है, और इस कारण जीव का लोक परलोक सब नष्ट हो जाताहै, ऐसे सर्वनाश के कारण दुःसंग प्रयत्न पूर्वक त्याग देना चाहिये। भगवान् श्री कृष्ण ने इसी विषय कहा है:

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेपूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् वुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता अध्याय २, ६२-६३)

विषयों का ध्यान करने से उनमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होने से उनको प्राप्त करने की कामना होती है। कामना की पूर्ति में बाधा पड़ने पर क्रोध आता है। क्रोध होने पर चित्त मोह-जड़ता की अवस्था में पड़ जाता है। चित्त में मोह होने पर स्मृति नहीं रह जाती कि शास्त्र तथा सत्पुरुषों ने इस अवस्था में क्या ठीक बताया है? स्मृति न रहनेपर सद्-असत् का विवेक करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है और वुद्धिनाश होनेपर तो पुरुष का विनाश-पतन निश्चित है।
इसलिए जैसे का संग करोगे वैसे ही विषय का चिंतन होगा और यह चिंतन उसमें आसक्ति उत्पन्न करके क्रमशः बुद्धिनाश से सर्वनाश की और ले जाएगा। ॥४४॥

तरङ्गायिता अपी मे सङ्गात समुद्रायन्तिः ॥४५॥

तरंगों के समान रूप से स्थित होने पर भी यह संग से समुद्र के समान हो जाते हैं।

यह काम-क्रोधादि दुर्गुण पहले तरंगके समान चित्तमें आते हैं और फिर दुःसंग अथवा विषयका संग पाकर समुद्र बन जाते हैं।

मनुष्य जितनी देर ध्यान, सत्संग, हरिकथा श्रवण , अथवा मंदिर में बैठते हैं-संसार नाशवान है,धन जनमें मोह करना अच्छा नहीं, इत्यादि ज्ञान की तरंगे उनके मन में उठा करते हैं, परन्तु यदि वही सज्जन कुसंग के जाल में पड़ जायँ तो उनकी साधुता के भाव धीरे धीरे अन्तर्धान होकर उन सुक्ष्मरूप से वर्तमान काम क्रोधादि की तरंगों पर तरंगें आकर उनका एक विशाल समुद्र सा वनजाता है. और वह जीवोंको दुःखभरी गंभीर गहराई में डुबो देता है अतएव मनको ऐसा रखो कि उसमें पापकी तरंगहीन उठे। अत: अपने मन को ऐसा रखना चाहिए कि उसमें पाप की तरंग ही नहीं उठे। तरंग नहीं उठेगी तो समुद्र कैसे बनेगा।

दद्यान्नावसरं किञ्चित् कामादीनां मनागपि ।

काम-क्रोधादिको कभी अपने मनमें आनेका तनिक भी अवसर नहीं देना चाहिए। ॥४५॥

कस्तरति कस्तरति मायां ? यः सङ्गांस्त्यजति, यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ॥४६॥

कौन माया को तरता है? कौन माया के पार जाता है? जो आसक्तियों का त्याग करता है, जो साधुपुरुष की सेवा करता है, जो ममतारहित होता है ।

मनुष्य स्वभाव से ही यह चाहता है, कि-मेरे दुःख दूर हों और सुख मिले, परंतु यह दुःख दूर होना और सुख मिलना मनुष्य की इच्छा के अधीन नहीं है, यह सब कर्मानुसार होता है, कर्मों के वशीभूत होकर मनुष्य दुःखों और सुखों को भोगता है। परन्तु जो मनुष्य संसार के समस्त विषयों और सांसारिक आसक्तियों को त्याग देता है, वही माया के इस भीषण समुद्र को लांघ कर माया के पार पहुँच सकता है।

जिनकी आसक्ति क्रमश: कम होती जाती है, उनके निपिद्ध आचरण में कमी के साथ विहित आचरण की वृद्धि होती जाती है और इस प्रकार कर्म के फल में आसक्ति नहीं रहती। फल की आसक्ति से रहित कर्म को ही निष्काम कर्म कहते हैं! निष्काम कर्म का प्रारंभ होते ही साधन की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है और ऐसी समझ होते ही साधुपुरुषों का समागम होता है। साधु समागम के साथ साधु सेवा और भजन में प्रवृत्ति बढती है और भगवान में ध्यान बढ़ने लगता है। जिससे सांसारिक विषयों, रिश्तों, कर्मों में आसक्ति छूटती जाती है और ममता रहित मनुष्य माया के पार पहुँच कर परमात्मा के समीप पहुँच जाता है। श्री चैतन्य देव ने कहा है :

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

अर्थातस्वयं को मार्ग में पड़े हुए तृण से भी अधिक नीच मानकर, वृक्ष के समान सहनशील होकर, मिथ्या मान की कामना न करके, दूसरों को सदैव सम्मान देकर हमें सदा ही विनम्र भाव से श्री हरिनाम कीर्तन करना चाहिए

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥ ४७॥

जो निर्जनस्थान का सेवन करता है, जो लोकसंग रूप बंधन का उन्मूलन करता है, जो त्रिगुणरहित होता है और जो योग क्षेम का भी त्याग कर देता है॥ ४७॥

माया से निर्वृति पाने का और भी उपाय कहते हैं कि, लोकसमूह में रहने से सांसारिक कोलाहल के कारण निरन्तर भगवचिन्तन नहीं बनता, अनेकों प्रकार के लौकिक संग से व्यवहार में संलग्न होना पड़ता है, इस दशा में संगदोष लग सकता है और जन समूह में रहने से लौकिक मर्यादा के अनुसार ही आहार व्यवहार आदि का आचरण करना पड़ता है। इसलिए एकांत स्थान में निवास करना ही हितकारी कहा गया है। कुछ मनुष्यों का इसमें प्रश्न हो सकता है की एकांत स्थान में वास करने पर शरीर के निर्वाह के लिए भोजन इत्यादि आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था कैसे होगी? परन्तु शरीर के निर्वाह के लिए भगवद्भक्त को उसकी चिंता नहीं करनी पडती

भोजनान्च्छादने चिंता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
विश्वम्भरो गुरुयैषां किं दासान् समुपेक्षते ।

अर्थात् विष्णु परायण पुरुष अपने भोजन वस्त्र के लिये वृथा ही चिंता करते हैं, क्योंकि-चराचर सकल विश्व को भोजन देने वाला विश्वम्भर जिनका रक्षक है वह क्या अपने अनुगत सेवकों की उपेक्षा कर सकता है?

संसार में यदि हम किसी से भी सम्बन्ध नहीं रखेंगे, किसी के सुख-दुःखमें सम्मिलित नहीं होंगे तो हमारे सुख-दुःखमें कौन सम्मिलित होगा ? संसारमें सबका काम एक दूसरे की सहायता सहयोगसे ही चलता है। हम किसीसे सम्बन्ध न रखें और सर्वथा एकान्तमें वैठ जायें तो हमारे योग-क्षेमका निर्वाह कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि भक्त वह है जो योगक्षेमकी चिन्ता भी छोड़ देता है। भगवान ने तो गीता में कहा ही है कि

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः प्रर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

जो पुरुष अनन्यभाव से मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं उनकी शरीरयात्रा के निर्वाह का भार मैं अपने ऊपर ले लेता हूँ।

एकांत में रहने के लिए संसार के जितने बंधन हैं उनका उन्मूलन कर देना चाहिए। इसके लिए कहा गया है कि जो महापुरुष की सेवा करेगा वह लोक बन्धन का उन्मूलन करके अपनी ममता को नष्ट कर देगी और तब त्रिगुण-मूलक सम्बन्ध एवं क्रियाएँ उसे बाँध नहीं सकेंगी। ॥४७ ॥

यः कर्मफलं त्यजते कर्माणयपि संन्यसति ततो निर्द्वद्वो भवति ॥४८॥

जो कर्म फल को त्याग देता है, कर्मो का भी समर्पण कर देता है, वह द्वन्द्वातीत होता है।

जब तक साधक के मनोवेग की शान्ति न हो अर्थात् पदार्थों में प्रवृत्ति बनी रहे तब तक विहित कर्मों का आचरण न छोड़ कर उन कर्मों के फल को अपने भोग के लिए न चाहकर उन सभी कर्मों के फल को भगवान् को अर्पण कर दे और जब इंद्रियाँ और उनका वेग शांत होनेलगे अर्थात् निवृत्ति में श्रद्धा का उदय हो जाए तव विक्षपकारी कर्मों को भी त्याग दे।

त्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम् ।
त्वया कृतं तु फलभुक्त्वमेव मधुसूदन ॥

मैंने जो कुछ किया है अथवा जो भी कुछ करूँगा, न वह मैंने किया है और न ही करूँगा । हे मधुसूदन वह सब कुछ तुमने मुझसे करवाया है, अत: तुम्ही उसका फल भी प्राप्त करो।

जो इस प्रकार कर्मफल तथा कर्म भगवान् को अर्पित कर देता है वह निर्द्वन्द हो जाता है। क्योंकि जब हमने अपने समस्त कर्मों के फल भगवान् को अर्पित कर दिए तब हमें जीवन के द्वंदों – सुख:दुःख, हर्ष- शोक, जन्म-मृत्यु, संयोग-वियोग की क्या चिंता।

इस प्रकार साधना करते हुए जिसमें चित्त सुख में स्पृहारहित और दुःखमें उद्वेग रहित हो जाए वह समदर्शी ही माया के पार होता है ॥ ४८॥

यो वेदानपि सन्न्यसति केवलमविच्छिन्नानु रागं लभते ॥ ४९॥

जो वेदोक्त मर्यादा का भी त्याग कर देता है और निरंतर प्रेम को प्राप्त करता है।

कर्मफल में आसक्ति रहित होकर कर्मफल का अनुष्ठान करते हुए मन का वेग दूर होने पर शुद्धचित्त हुए मनुष्य को ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति होती है, फिर लोकमर्यादा की ओर भी उसका ध्यान नहीं जाता। स्वधर्माचरण के गुण और उसको त्यागनेको दोष को जानने वाले पुरुष के भी लौकिक कर्म का त्याग हो जाता है, लौकिक कर्म का त्याग होने पर भी वेदोक्त कर्मों की ओर ध्यान रहने से वैदिक कर्म का त्याग नहीं होता, सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य-नैमित्तिक कर्म तो भक्त भी करता ही है।

भक्त शास्त्र की आज्ञा को भगवान की आज्ञा मानकर उसका पालन तो करता है; किन्तु नित्यकर्म न करनेसे दोष लगेगा इस भय से नहीं, अपितु वह केवल अपने प्रभु के लिए ही कर्म करता है। प्रेमपंथी पुरुष लोकमर्यादा और वेदमर्यादा दोनोंको त्यागकर निरन्तर प्रेमके साथ भगवान् के गुणानुवादका श्रवण कीर्तन आदि ही करते हैं, जिनके अन्तःकरणमें ऐसे पवित्र परम प्रेम का प्रवाह निरन्तर बहने लगता है वह अनायास में ही माया के पार हो जाते हैं।

यदा यमनुगृह्णाति भगवान् पुरुषः परः ।
स त्यजेत मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥
(श्रीमद्भाग० ४।२९।४६)

जब भगवान् का चिन्तन-ध्यान करते-करते परमपुरुष भगवान् का अनुग्रह हृदय में प्रकट होता है तब पुरुष लोकाचार एवं वैदिकाचार में अत्यन्त निष्ठा रखनेवाली बुद्धि का त्याग कर देता है।॥४९॥

स तरति, स तरति स लोकाँस्तारयति ॥ ५० ॥

वह तरता है, वह माया को पार कर जाता है और लोकों को भी तारता है।

भगवत प्रेमी भक्त ही माया के पार होता है और केवल स्वयं ही पार नहीं होता, किंतु अन्य मनुष्य भी उसके द्वारा माया से पार हो जाते हैं ।

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चितंरुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति

जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीला का वर्णन करते हुए गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओं को याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारंबार रोता रहता है, कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने लगता है, तो कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसार को पवित्र कर देता है।

इस माया के खेल में जो खिलौने नहीं चाहता, केवल उस मायावी को चाहता है, उसे वह प्राप्त होता है। सच्चे प्रेम के सामने पर्दे नहीं टिकते। जैसे ज्ञान आवरण भंग कर देता है वैसे ही प्रेम भी आवरण को भंग करता है। जो इस भक्ति मार्गपर चलता है उसे अटूट-अखण्ड प्रेम प्राप्त होता है। वह स्वयं तो माया से पार हो ही जाता है, दूसरों को भी माया से पार कर देता है, क्योंकि उसके सामने माया टिकती नहीं है।॥ ५० ॥

सप्तम अनुवाक्

अनिर्वचनीयं नमस्वरूपम् ॥ ५१ ॥

प्रेम का स्वरूप अवर्णनीय है।

जिस प्रेम की सहायता से परम कल्याण होता है, उस प्रेम का स्वरूप वाणी से नहीं कहा जा सकता, उसका अनुभव तो केवल प्रेमी ही कर सकते हैं, जानकर भी उसको वह किसी के सामने प्रगट नहीं कर सकते, इस संसार में ऐसी कोई वस्तु अथवा वाक्य नहीं है जिसके द्वारा प्रेम का स्वरूप समझाया जा सके, प्रेम के लिये दूसरा शब्द है चाहत अथवा चाहना परंतु लौकिक चाहत और श्रीभगवान की चाहत एक नहीं है, लौकिक चाहत मूल अशुद्ध है, क्योंकी उसमें स्वार्थ है, भगवत्प्रेम प्रत्यन्त शुद्ध और निःस्वार्थ है।

भगवत प्रेम में निःस्वार्थभाव, निरहंकारभाव और आत्मसमर्पण का भाव मुख्य है। इसलिए ऐसा प्रेम 'असत्' कभी नहीं होता ! सब अवस्थाओं में प्रेम 'सत्' स्वरूप ही रहता है। इसलिए प्रेम जगत् के समान 'सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीय' नहीं है। जगत् को तो 'सत्' भी नहीं कह सकते और असत् भी नहीं कह सकते; किन्तु प्रेम 'सत्' है।

प्रेम को किसी क्रिया, वस्तु, भाषा अथवा भाव में बांधा नहीं जा सकता। प्रेम न केवल प्यास है, न केवल तृप्ति । प्रेम में अनन्त प्यास भी है और अनन्त तृप्ति भी।

प्रेमी मूक रहते हुए भी भाषण देता है। मानों उसका अंग-अंग बोलता है। उसके सभी अवयवों से मानों एक शुद्ध संकेत, एक निर्मल ध्वनि

निकलती है। प्रेमी उपदेश देने नहीं जाता, वह क्या बोले, कैसे बोले ? गोपियों ने प्रेम की शिक्षा किसे और कब दी थी ? भरतजी ने भक्ति का उपदेश कब और किसे दिया ? उनके चरित्र उपदेश देते रहे और देते रहेंगे। प्रेम में जिस अनन्यता और आत्मसमर्पण की सराहना की गयी है, उसकी सजीव मूर्ति गोपियाँ हैं। इसी प्रकार रामायण में उसके प्राणस्वरूप प्रेम-मूर्ति श्रीभरतजी हैं |

प्रेम आत्मा की वह वृत्ति है जो परम क्षुद्र मनुष्य को पापी और मन के अगोचर अनन्त परब्रह्म की खोजमें प्रवृत्त फराकर अंश को अंशी के साथ, शक्ति को शक्तिमान् के साथ मिला फर अटूट बंधन में बांध देती है। वह मनुष्यो अस्वाभाविक अहङ्कार को स्वाभाविक अहङ्कार में विलीन करके उसमें दास्यबुद्धि को उत्पन्न करदेती है और मनुष्य की स्वतंत्रता को परतंत्रता में बदलती है, मनुष्य के सकल स्वार्थमूलक को परार्थमूलक करके, जगत के द्वेषभाव को प्रीति भाव में बदलकर उसको सकल जीवो की सेवा में, भगवत सेवा में लगादेती है। वह मनुष्य के क प्रज्ञान अन्धकार को दूर करके उसको निःस्वार्थ भाव से परोपकार करने के लिये जगत् का हित करने के लिये तत्त्वज्ञान से प्रकाशित कर देती है।

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है, क्योंकि उसके समान न तो कोई लौकिक वस्तु है, न ही भगवत प्रेम को लौकिक वाणी से प्रकाशित ही लिया जा सकता है। प्रेम किसी देश, काल, वस्तु, क्रिया, या किसी भाषामें आबद्ध होता तो उसका निर्वचन होता। वह तो सब में है और किसी में बँधा नहीं है। तब उसका निर्वचन कैसे हो सकता है ?॥५१॥

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

गूंगे के स्वाद के समान है ।

जैसे गूंगा मनुष्य परम स्वाद मीठे पदार्थों का स्वाद लेकर आनन्द से गदगद हो जाता है, परन्तु वा क्शक्ति न होने के कारण दूसरे को उसके रस का वर्णन करके नहीं समझा सकता, केवल हँस देता है अथवा इशारे से अच्छा या बुरा बता देता है, ऐसे ही भगवान् का प्रेमी भक्त भी प्रेम प्रकट होने के समय आनन्द से गदगद हो जाता है स्वयं उसका स्वाद लेकर भी दूसरे को उसका स्वरूप कह कर नहीं समझा सकता, इसकारण वह वाणी का विषय न होने से अनिर्वचनीय है।

लोकमान्य तिलक जी के 'गीता-रहस्य' की हिन्दी टीका में श्री तुकाराम जीके एक छन्द का अनुवाद दिया है:

गूंगे का गुड़ है भगवान्, वाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक, जल-तरंग सम हैं हम एक ॥

जो भगवान् है वह प्रेम है और जो प्रेम है वह भगवान्। जैसे-जो ब्रह्म है वह ज्ञान और जो ज्ञान है वह ब्रह्म । उस ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं है। द्रष्टा-दृश्य के भेद का लोप होकर जो अखण्ड सत्ता है उसमें द्रष्टा कहाँ ? इसी प्रकार जो प्रेम है, रस है, उसमें रसिक-रस्य, आस्वाद्य-आस्वादक, भोक्ता भोग्य का भेद नहीं है। ज्ञान वह अखण्ड, जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय का भेद नहीं होता। आनन्द वह अखण्ड, जिसमें भोक्ता-भोग्य का भेद नहीं होता। सत्ता वह अखण्ड, जिसमें कर्ता-कार्य का भेद नहीं होता। इसलिए प्रेम वह तत्त्व है जिसमें प्रेमी एवं प्रियतम एक हो जाते हैं, दोनों में भेद नहीं रह जाता। आस्वादन त्यागकर जो आनन्द है वह भोक्ता का स्वरूप है। ॥५२ ॥

प्रकाश्यते क्वापि पात्रे ॥५३॥

किसी किसी अधिकारी में वह प्रकाशित होता है।

प्रेम स्वयंप्रकाश है। वह प्रकट होने योग्य हृदय मिलने पर ही उसमें प्रकाशित होता है। पात्र देखकर प्रेम प्रकट हो जाता है। शुद्ध वस्तु हो तो उसे शुद्ध पात्र में रखा जाता है। जैसे गोपियाँ शुद्धपात्र-उचित अधिकारी थीं। उनके मनमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं था। शुद्ध प्रेम संसार में किसी-किसी के हृदयमें प्रकट होता है। सांसारिक व्यक्ति के हृदय में
आकर तो वह मोह कामबन्धन का हेतु बन जाता है।

प्रेम सबके हृदय में इसलिए भी प्रकाशित नहीं होता क्योंकि मनुष्यों ने वासनाको ही प्रेम मान रखा है। वास्तव में प्रेम तो तभी होता है जब चित्त भगवान् से जुड़े। भगवान् से बिना जुड़े जो राग होता है वह केवल मोह होता है। देहधारी का देहधारी के प्रति केवल मोह होता है। क्योंकि प्रेम शुद्ध है अतः वह शुद्ध वस्तुसे ही जुड़ता है। अशुद्ध वस्तु से जो जुड़ता है वह मायिक-प्राकृत काम है। कोई स्त्री से प्रेम करे और कहे-'हमारा प्रेम शुद्ध है' तो यह उसका भ्रम है क्योंकि प्रेम का विषय ही अशुद्ध है। परन्तु जब कोई भाग्यवान पुरुष प्रेममें मतवाला होकर अपने को आपको ही भूल जाता है, अपने अस्तित्व को भगवान में विलीन कर देता है, उस समय प्रेम उस प्रेमी के संसर्ग से अपने आप ही प्रकाशित हो जाता है

सत्यपि ध्वंसकारणे सर्वथा ध्वंसरहितम् ।
यद्भाववन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकोर्तितः ॥

टूट जाने-झगड़ा हो जाने पर भी जो परस्पर का भाव-बन्धन सर्वथा अटूट बना रहता है उसे प्रेम कहा जाता है। ऐसा प्रेम उचित-शुद्ध पात्र में ही प्रकाशित होता है।॥ ५३॥

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणं वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४॥

गुणो से हीन, कामनाहीन, प्रतिक्षण बढ़नेवाला, विच्छेदरहित अतिसूक्ष्म तथा अनुभव स्वरूप है।

प्रेम गुण देखकर नहीं होता। किसी के गुणों को देखकर जो प्रेम, भक्ति एवं आदर का उदय होता है, स्वर्गादि की कामना से तथा भोग आदि की कामना से जो पुण्यकर्म में अथवा भक्ति में आसाक्ति होती है वह वास्तविक प्रेम नहीं है, क्योंकि गुणी से जो प्रेम किया जाता है, उसका गुण दूर होते ही उस प्रेम का क्षय हो जाता है, स्वर्गादि की प्राप्ति हो जाने पर कर्म में आसक्ति कम हो जाती है, परंतु भगवत् प्रेम का विच्छेद नहीं होता, क्योंकि वह गुणों के संपर्क से शून्य और कामना रहित होता है। कामना ही आत्माकी अशुद्धि है। कामी अपनी ओर न देखकर अन्यकी ओर देखता है। जिसकी चाह है वहीं दृष्टि है। परमात्माकी चाह है तो दृष्टि परमात्मा पर है।

कामना पूर्ण संसार का प्रेम पहले तो बड़े चाव के साथ बढ़ता है, परन्तु बाद में अवस्था, रूप, बल और धन प्राप्ति के घटने के साथ दिनों दिन घटता चला जाता है, परंतु भगवत् प्रेम तो प्रतिक्षण बढता है, प्रेम की धारा अनंत परमेश्वर की ओर अटूट प्रवाह से निरंतर बहती है, उसमें किसी सांसारिक दुःख आदि की बाधा, विच्छेद् वा विराम

नहीं होता, क्योंकि भगवद्वियोग के महान् दुःखसागर में संसार के सकल क्षुद्र दुःख डूब जाते हैं। वह भगवत प्रेम सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और अनुभव स्वरूप है।

यह जिस समय भगवान की कृपा से किसी मनुष्य के अन्तःकरण में प्रकट होकर उसकी वृत्ति के साथ मिल जाती है, उससमय यह उसमनुष्य को अपनी ही वृत्ति प्रतीत होती है और तभी उसके अनुभव का विषय होती है, इस प्रकार सुक्ष्माति सुक्ष्म और अनुभव रूप होने के कारण इसका कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। भाषा के बोघ कवि ने प्रेम की सूक्ष्मताके वर्णन में यह कवित्त कहा है:

अति खीन मृनाल के तारहुँ ते तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई बेह हूँ बेधि सकी न तहाँ परतीति को टाँडो लदावनो है।
कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ की चढ़ितापै न चित्ता डगावनो है।
यह प्रेम को पंथ करार महा तरवार की धार पै धावनो है।

जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान वर्णन का विषय नहीं है, केवल ज्ञान का विषय है उसी प्रकार अनिर्वचनीय होने पर भी प्रेम के गुणों को भी पहचाना जा सकता है ॥ ४५ ॥

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति ॥ ५५ ॥

उसको प्राप्त करने के पश्च्यात, उसको ही देखता है, उसको ही सुनता है, उसका ही विचार करता है।

प्रेम की प्राप्ति होने की यही पहचान है कि प्रेम की प्राप्ति होने पर मनुष्य की दृष्टि बदल जाती है, वाणी बदल जाती है, स्वभाव बदल

जाता है। प्रेमाद्वैत हो जाता है। प्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता। प्रेमी के सामने प्रेममय भगवान का स्वरूप और प्रेम का स्वरूप एक ही पदार्थ है, जिन्होने प्रेम को प्राप्त कर लिया उन्होंने भगवान को ही प्राप्त कर लिया, इस कारण उनको स्वयं स्वरूप भगवान के अलावा और किसी को भी देखने, सुनने अथवा विचारने की इच्छा नहीं रहती

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।

वह प्रेम न सुख से बढ़ता है, न दुःख से घटता है। दोनों ही प्रियतम के दिए हुए प्रतीत होते हैं। अतः दरिद्रता-ऐश्वर्य, रोग-स्वास्थ्य, स्वप्न-जाग्रत् सव अवस्याओंमे प्रेम एक समान रहता है, हृदय को उसी में विश्राम मिलता है।॥ ५५ ॥

गौणी त्रिधा गुणभेदादादिभेदाद्वा॥५६॥

गुण भेद से अथवा आर्त आदि भेद से तीन प्रकार की है।

मुख्या और गौणी भेद से भक्ति दो प्रकार की है, ज्ञानी अथवा निर्गुण भक्त की अनुभव की हुई भक्ति मुख्या है, उसका स्वरूप यहां तक दिखाया। अब गौणी भक्ति सत्त्व-रज:-तमः इन गुणों के कारण सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की है। यदि शत्रु के प्रति द्वेष है और भगवान से शत्रु नाश के लिए प्रार्थना की जाए तो यह तामसी भक्ति होगी। कामना की पूर्ती में लिए भगवान् से की गई प्रार्थना राजस-रजोगुणी भक्ति है। सुख की इच्छा से भक्ति करने पर भगवान् की सेवा करने की इच्छा होगी। यह सात्त्विक भक्ति हो जायगी।

परन्तु यदि केवल भगवान् के नाम का स्मरण, भगवान् के गुणों का चिन्तन किया जाए जिससे चित्त से द्वेष मिट जाएं तो, शत्रु का स्मरण ही नहीं रहेगा।

इसी प्रकार जिज्ञासु अथवा मुमुक्षु भक्त सात्विक, आर्त भक्त राजसिक और अर्थार्थी भक्त तामस अधिकारी हैं। इनमें जिज्ञासु निष्काम और आर्त तथा अर्थार्थी सकाम हैं। श्रीमद भगवत गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने चार प्रकार के भक्त बताये हैं:

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आतो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

चार प्रकार के लोग मेरा भजन करते हैं-आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इनमें से ज्ञानी की भक्ति तो निर्गुण भक्ति है। अतः यहाँ त्रिधा गौणी भक्ति में आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी की भक्ति को ही लिया गया है।॥५६॥

उत्तरमादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥५७॥

उत्तर-उत्तर क्रम की अपेक्षा पूर्व-पूर्व क्रम की भक्ति कल्याण कारिणी होती है।

यद्यपि तीनों प्रकार की भक्ति कल्याणकारिणी है तथापि तामसी से राजसी और राजसी से सात्त्विकी भक्ति को अधिक कल्याणदायक समझना चाहिये, क्योंकि अथार्थी तामस भक्त किसी कामना से ही भक्ति करते हैं, यदि उनको किसी पदार्थ की इच्छा न हो तो वह

भक्ति करेंगे भी, इसमें संदेह ही है, इसके अतिरिक्त काम्य पदार्थ प्राप्त हो जाने पर भी अभिमानित होकर फिर उनको भगवान की याद भी नहीं पाती, आर्त भक्त की भी विपत्ति के विना भक्ति नहीं होती, विपत्ति में बिना पडे वह भगवान का भजन नहीं करते, यह ठीक है, परन्तु विपत्ति छूटने पर उनको अभिमान होने की अधिक संभावना नहीं है, विशेषतः उस दशा में वह अपनी हीनता का अनुभव करके श्रीभगवान् को आत्मसमर्पण करते हैं, इस कारण वह कभी भगवान् को नहीं भूलते, इसी से अर्थार्थी से आर्त भक्त श्रेष्ठ है, परंतु जिज्ञासु इन दोनों की ही श्रेष्ठ है, क्योंकि-अर्थार्थी और आर्त दोनो सकाम भक्त हैं, जिज्ञासु मोक्षकाम तथा निष्काम होता है, जिज्ञासु केवज्ञ तत्वज्ञान के लिये भगवान की भक्ति करते हैं, जिज्ञासु की भक्ति श्रीभगवान् के लिये अथवा श्रीभगवान् को जानने के लिये होती है। उसकी भक्ति के मूल में अपनी क्षुद्रता और भगवान् का महत्व झलकता है।

अथार्थी और आर्त की अभिलाषा भगवान् के अतिरिक्त उनके प्रसाद सुख को प्राप्त करने के लिये होती है।

जिज्ञासु पहले मोक्षसुख की अभिलाषा दिखाई देने पर भी साधन के पक जाने पर वह भी नहीं रहती, इस दशा में ही वह ज्ञानी होता है, ज्ञानी को श्रीभगवान् के सिवाय और कोई अमिलाषा ही नहीं होती, इस कारण निर्गुण भक्त ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ है ॥५७॥

अष्टम अनुवाक़

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥५८॥

अन्य साधनों से भक्ति में सुलभता है।

मोक्ष के तीन साधन हैं-कर्म, ज्ञान और भक्ति । कर्म, कर्मयोग और अष्टांग योग भेद से दो प्रकारका है, यह कर्म मोक्ष का साधन होते हुए भी साक्षात् साधन नहीं है किंतु ज्ञान भक्तों का अनुगामी होकर परम्परा मोक्ष का साधन होता है। ज्ञान और भक्ति मोक्ष के साक्षात् साधन हैं। कर्मयोग और अष्टांग योग का साधन करते समय अनेकों सिद्धियों के वश में होकर साधन के उन्नतिमार्ग में विघ्न डालती हैं, परन्तु ज्ञानयोग तथा भक्तियोग में विघ्न होना संभव ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानयोग में चित्तशुद्धि पर्यन्त और भक्तियोग में आशय शुद्धि पर्यन्त कोई सिद्धि वशमें होती ही नहीं। इस प्रकार ज्ञानयोग और भक्तियोग में समता मालूम होने पर भी भक्तियोग ही सुलभता में श्रेष्ठ है, क्योंकि विषयों से वैराग्य हुए बिना मनुष्य ज्ञानयोग का अधिकारी नहीं हो सकता, परंतु भक्तियोग में ज्ञान अथवा वैराग्य की अपेक्षा नहीं है।

भक्ति का मार्ग सरल है। भक्त को यदि पढ़ना-लिखना, सेवा-अर्चना नहीं आती हो तो भी कोई हानि नहीं है। केवल भगवान् का नाम लेने पर भगवान् की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि नामी तो नाम के वश में हैं। यह भी न हो सके तो भगवान् की कथा श्रवण करो।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
(श्रीमद्भाग० ७।५।२३)

यह सव भगवान्की भक्ति ही है। भक्तिमें कोई अधिकारभेद नहीं है। अतः भक्ति ही सबसे सुलभ है, तभी तो विद्याविहनि होकर भी

गणिका, निर्धन होकर भी शबरी, वेद न पढ कर भी गोपियां और मनुष्य न होकर भी जटायु और गजराज तथा चाण्डाल होकर भी गुह ने भक्ति के द्वारा भगवान् को प्राप्त किया। स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(गीता ९।३०)

भले ही कोई अत्यन्त दुराचारी हो किन्तु अनन्यभावसे मेरा भजन करता हो तो उसे साधु ही मानना चाहिए; क्योंकि वह ठीक निश्चयपर पहुँच चुका है।'

भक्ति में देश-कालका भी भेद नहीं है। सुबह-दोपहर शाम, सब समय सेवा की जा सकती है।

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः ।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥
(श्रीमद्भाग० ७७३८)

भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद कहते हैं- 'दैत्यपुत्रो! श्रीहरिको उपासनामें कौन-सा बड़ा परिश्रम है! वे तो अपने हृदयमें ही रहते हैं, अपनी आत्मा ही हैं और समस्त देहधारियोंके सामान्य रूपसे मित्र हैं। अतः उनका भजन करो। विषयोंको प्राप्त करनेसे भला क्या सुख होता है !'

धर्म, योगादि में विघ्न बहुत हैं। ज्ञान में असंभावना-विपरीत भावना बहुत आती है। भक्ति में तो केवल अपने हृदय से पूछते रहना है-

'यह कार्य हम किसके लिए कर रहे हैं ?' भक्ति में वस्तु आवश्यक नहीं है। धन के बिना यज्ञ तो रुक सकता है, भक्ति नहीं रुकती। यहाँ तो एक पैसा भी न हो तो अंजलि-भर जल और दो तुलसीदल पर्याप्त हैं:

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च ।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तभ्यो भक्तवत्सलः ॥

भक्त वत्सल भगवान् केवल तुलसीदल तथा चुल्लू-भर जलके बदले अपने को भक्तों के हाथ बेच देते हैं।'

भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि 'जो जैसे मेरा भजन करता है, मैं भी वैसे ही उसका भजन करता हूँ।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मनुष्य भगवान् की ओर एक कदम चले, उनके लिए एक क्षण लगाए तो भगवान को भी उसकी ओर एक कदम चलना पड़ेगा। भगवान् के एक पद में तो सारी दूरी समाप्त हो जाती है और उनके एक क्षण में समस्त काल आ जाता है। भगवान के क्षण में तो ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की एक आयु पूरी हो जाती है । सत्य तो यह है कि हम भगवान् के लिए एक पद उठाते नहीं हैं। अन्यथा भक्ति में तो यह सुलभता है कि भगवान् स्वयं भक्तको ढूंढते हैं। ॥ ५८ ॥

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात् ॥ ५९ ॥

अन्य प्रमाण की अपेक्षा न होने से तथा स्वयं प्रमाण रूप होने से।

भगवान् की भक्ति करने में किसी प्रकार का परिश्रम अथवा व परिश्रम अथवा दुःख नहीं होता, यह बात किसी को समझाने की आवश्यकता नहीं है, जो भक्ति की उपासना करते हैं, उनको स्वयं ही इस बात का अनुभव हो जाता है।

भक्ति के साधन में कठिनाई अथवा दुःख होने का तो सवाल ही नहीं है? प्रत्युत सकल क्लेश दूर होजाते हैं, उस भक्ति के लिये सच्ची उत्कंठा होते ही प्राप्त होती है, अत: भक्ति की सुलभता में भक्त ही प्रमाण है

इस कारण भक्ति को सुलभ कहा जाता है क्योंकि कि सांसारिक मनुष्य कठिन साधन में लगना नहीं चाहते। वह चाहते हैं कि न धन खर्च हो, न परिश्रम करना पड़े, न बुद्धि को अत्यधिक लगा पड़े, और भगवान् की प्राप्ति हो जाए, ऐसा केवल भक्ति ने द्वारा ही संभव है।

यह भी होता है कि की जो वस्तु जितनी सुलभ और सुखदायक होती है, उतना ही उसका महत्त्व कम होता है परन्तु भक्ति में तो ऐसा नहीं है ? सूरदास जी कहते हैं:

मिली तड़ाग सों, दीन्ही कूल बिदार । ना
म मिटयो सरिता भई, कौन निबेरै बारि ॥

प्रेम में प्रमाण नहीं चाहिए। प्रीति होनेपर प्रियतमकी सेवा कैसे करनी चाहिए यह प्रेम ही सिखला देता है-

प्रेमगुरुणा गौरीगणः पाठ्यते।

प्रेम ही बतला देता है कि प्रियतमको कब कौन-सा पुष्प प्रिय है, कब वे कैसा भोजन करना चाहेंगे, कब कैसा वस्त्र धारण उन्हें रुचेगा, कब संगीत का कौन-सा राग वह सुनना चाहते हैं। जैसे जैसे प्रभु के नाम में, प्रभु के चरणों में प्रेम बढ़ता जाएगा, वैसे वैसे भक्ति दृढ होती जाएगी। ॥ ५९॥

शान्तिरूपात परमानन्दरूपाच्च ॥ ६०॥

शान्ति स्वरुप और परमानन्द स्वरुप होने से।

जिस साधन में अशान्ति और दुःख है वही दुर्गम है और जिसमें वादविवाद, द्वन्द्व, उद्वेग, सन्देह, संकल्प विकल्प, सुख दुःख आदि तरंगों का लेश भी नहीं है, किंतु शान्ति और सुख है, वही सुगम है, जो सुगम है वही सुलभ है।

भक्ति के अलावा अन्य सभी साधनों के अनुष्ठान में अशान्ति और दुःख होता है, परंतु भक्ति में प्रवृत्ति होते ही शांति और सुख का अनुभव होने लगता है, क्योंकि भक्ति स्वयं शांतिरूप और सुखरूप है, कामना ही अशांति की मूल है, भक्ति का प्रारंभ होते ही सब कामनाएं रुकने लगती हैं और भक्त को आराध्य का सहारा रहता है। भक्त का ह्रदय छोड़ कर दूसरा कोई निवास नहीं है। भक्त का जीवन-प्राण-आनन्द भगवान् हैं और भगवान् का जीवन प्राण-आनन्द

भक्त हैं। व्यक्ति के जीवन को भगवन्मय-परमानन्द स्वरूप बनाने वाली भक्ति है।

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्म लोकवेदत्वात् ॥६१॥

आत्मा, लोक और वेद को निवेदन करने के कारण लोकहानि के विषय में चिंता नहीं करनी चाहिये।

जब आत्मा, लोक, वेद सब कुछ भगवान् को अर्पण कर चुके, फिर लोक परलोक को चिन्ता का क्या औचित्य? जो वस्तु जिस को अर्पण कर दी जाती है, उसकी देखभाल और रक्षा का भार उसी के ऊपर होता है, भगवान् उसकी चिन्ता आप कर लेंगे, भक्त को तो केवल भगवान की प्रेमसेवा मात्र की चिन्ता रखनी चाहिये:

चिन्तां कुर्यान रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः ।
तथापयन् हरेहं विरमेदस्य रक्षणात् ॥

'जैसे किसी पशुको हमने दूसरेके हाथ बेच दिया तो उसकी रक्षाकी चिन्ता हम नहीं करते। इसी प्रकार जब शरीर श्रीहरिको समर्पित कर दिया तब इसकी रक्षाकी चिन्ता छोड़ देनी चाहिए।'

यही आज्ञा श्री वल्लभाचार्य जी ने चतुःश्लोकी में दी है:

एवं सदा स्वकर्त्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्व समर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत ॥

यदि श्री गोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं बूहि लोकिकैर्वैदिकैरपि॥

अर्थात यह ध्यान में रखकर अपने कर्तव्यों का हमेशा पालन करते रहना चाहिएकि प्रभु सर्व समर्थ हैं तथा इसका ध्यान रखते हुए निश्चिन्ततापूर्वक रहना चाहिए। यदि तुमने सबके आत्मस्वरुप गोकुल के राजा श्रीकृष्ण को अपने ह्रदय में धारण किया हुआ है, फिर क्या उससे बढ़कर कोई और सांसारिक और वैदिक कार्य है। श्रीवल्लभाचार्य जी ने कहा है :

निवेदितात्मभिश्चिन्ता कार्या कापि कदापि न ।
निवेदनं च स्मर्तव्यं सर्वदा तादृशैर्जनैः ॥

"जिन्होंने भगवान्को आत्मनिवेदन कर दिया है उन्हें कभी कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए। ऐसे लोगोंको तो सर्वदा अपने निवेदनका ही स्मरण करना चाहिए।

भगवान् सर्वेश्वर सर्वात्मा हैं। वे हमारे चित्तकी दशा भी जानते हैं और जो करना चाहें वह करने में समर्थ भी हैं। अतः उनकी जो इच्छा होगी, जो करना उन्हें ठीक लगेगा, वह करेंगे।'

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ।

श्रीमदभागवत में उद्धव को उपदेश देते समय भगवान् ने अंतिम उपदेश में कहा :

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।

तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै॥
(भागवत ११।२९।३४)

जिस समय मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, उस समय वह मेरा विशेष प्रिय हो जाता है और मैं उसके जीवत्वसे छुड़ाकर अमृतस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करा देता हूँ। वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है। ॥ ६१॥

न तदसिद्धौलोकव्यवहारो हेयः किंतु फलत्यागस्तत्साधनञ्च कार्यमेव ॥६२ ॥

प्रेम सिद्धि के लिये लौकिक व्यवहार नहीं त्यागना चाहिए परन्तु कर्म के फल का त्याग और लौकिक कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए।

भक्ति के साधक को ईश्वर में पूर्णतया आत्मनिवेदन की दृढता होने से पहले लोकव्यवहारों को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि लौकिक हानि होने पर मनुष्यों में चिंता व्याप्त हो जाती है।

भक्ति की यही विशेषता है कि लौकिक और वैदिक समस्त कर्म करते हुए उनके फल का निवेदन भगवान् को कर देना चाहिए।

साधन काल में लोक व्यव्हार त्यागने से तो शरीर का निर्वाह होना भी कठिन है। योगारूढ होने तक मनुष्य कर्मत्याग का अधिकारी नहीं है, जो योगारूढ हो जाता है वही कर्म को त्याग सकता है । जब तक योग में वृत्ति न जम जाए तब तक फल की इच्छा को त्यागकर सकल लौकिक कर्मो को करते हुए चित्त शुद्धि की अवस्था तक पहुँच जाना चाहिए क्योंकि शुद्धचित्त पुरुष ही योगसिद्धि कर सकता है,

भक्ति में श्रद्धा होते ही योग की प्रवृत्ति होती है । जो समस्त लोकों को सफलता पूर्वक त्याग सकता है, वही शुद्ध चित्त हे श्रद्धालु व्यवहार को त्याग सकता है।

लोक-व्यवहार में-धर्मपालन की चिन्ता होती है तो मन में आता है- इस सबको छोड़ ही दो। परन्तु यदि अपने सभी कर्मों के फल को भगवान को सपर्पित कर ही दिया तो क्या तुम्हारा अधिकार कर्म छोड़ने में है? क्योंकि जब भगवान को निवेदन कर ही दिया कि 'मैं तुम्हारा हूँ तब छोड़ने का अधिकार कहाँ रहा ! जब तुम्हारा लौकिक वैदिक व्यवहार, शरीर, मन, प्राण सब भगवान् ने संभाल रखा है तो कर्मों को छोड़ो मत अपितु, इनका ठीक-ठीक पालन करो।

एक और चिंता जो लौकिक व्यवहार करने में होती है वह यह है कि लौकिक कर्म करते करते, भगवान् का स्मरण छूट जाता है इसलिए लौलिक कर्मों का त्यागना ही उचित, परन्तु यह सही नहीं है क्योंकि जब समस्त कर्मों का समर्पण भगवान् को कर ही दिया है तो लौकिक व्यवहार भी तो भगवान् की सेवा ही है ।

एक व्यक्तिने वकालत त्याग दी और साधु बनने ऋषिकेश चला गया। दूसरेने वकालत नहीं छोड़ी किन्तु उससे होनेवाली आय भगवत्सेवामें लगाने लगा। उसे कर्म करते समय भी स्मरण रहता है कि वह कर्म किसके लिए करता है।

उत्तम भक्त उत्तम श्रद्धालु वही है,जो निरपेक्ष है, निरपेक्ष भक्त केवल मन में श्री भगवान् की सेवा करता है, इसलिए सांसारिक, लौकिक व्यवहार करते हुए संबंध रखने अथवा त्यागने की अपेक्षा उसके मन

में नहीं रहती, उनका यह दृढ निश्चय रहता है कि उनके ऐसे आचरण से कुछ भी क्षति नहीं हो सकती ॥ ६२ ॥

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ॥६३॥

स्त्रियों और धन के विषय की बातें, नास्तिको और शत्रुओं की चर्चा अथवा चरित्र नहीं सुनना चाहिये ।

श्रीमद भागवत गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है:

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनामात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥
(गीता १६।२१)

अपना विनाश करने वाले ये तीन नरक के द्वार हैं-काम, क्रोध तथा लोभ । अतः इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए।

देवर्षि नारद ने भी इस सूत्र में इन्हीं तीनों नरक के द्वारों का त्याग करने को कहा है। स्त्रीचरित अर्थात् कामवर्धक-चरित, धनचरित अर्थात् लोभवर्धक-चरित और शत्रुचरित अर्थात् क्रोधवर्धक-चरित ।

स्त्री-चरित्र न सुननेका अर्थ यह नही है कि हमें स्त्रियों के विषय में कोई बात ही नहीं सुननी चाहिए, इसका अर्थ है कि स्त्री का काम वर्धक चरित नहीं सुनना चाहिए। इसी प्रकार स्त्रियों को भी पुरुषों का कामवर्धक चरित नहीं सुनना चाहिए। सती, भक्तिमती, आचारपरायण स्त्रियों के चरित-श्रवणका यहाँ निषेध नहीं है। यहाँ निषेध है काम की वृद्धि करने वाले चरित का।

इसी प्रकार धन की चर्चा, धन उपार्जन करने के साधन की चर्चा, धनी मनुष्यों की भोग विलास की चर्चा सुनकर मन में लोभ की वृद्धि होगी। मन विलास के लिए अधिक धन का उपार्जन करने के लिए लालायित रहेगा और उससे चित में विकार आने के कारण विलासिता की वृद्धि होती जाएगी तथा भगवत भजन छूट जाएगा।

शत्रु का चर्चा सुनकर या तो मन में क्रोध उत्पन्न होगा अथवा द्वेष उत्पन्न होगा। शत्रु के मंगल का समाचार, उसकी विलासिता की कहानियां, उसका वैभव सुनकर उस स्थात्रू के प्रति क्रोध उत्पन्न होगा और उसका विनाश करने की भावना मन में घर कर जाएगी। शत्रु का कष्ट सुनकर कि वह भूखा, रोगी, पराजित, अपमानित है, प्रसन्नता होगी जो की द्वेष का ही रूप है। जिस शत्रु के प्रति हमारा द्वेष है वह विपत्ति में पड़े तो हमारे चित्त को प्रसन्नता होती है।

भगवान को न मानने वाले, भटके हुए, संशय ग्रस्त, धर्म विरोधी मनुष्यों की न तो बात सुननी चाहिए न ही उनका चरित क्योंकि उनकी चर्चा सुनने पर अपने मन में भी विकार उत्पन्न होगा। जिनके समीप बैठनेसे, जिनकी चर्चासे मनमें काम, क्रोध, लोभ, संशय, नास्तिकता बढ़े उनके संग, उनको चर्चाका त्यागकर देना चाहिए।

कोई तुमसे संसार की चर्चा करे तो उसकी बात की ओर से मन हटा लेना चाहिए। यह देखना चाहिए कि जो मनुष्य समीप बैठ कर चर्चा कर रहा है वह मन मस्तिक्ष में श्रद्धा भर रहा है या शंका ? यदि वह शंका, अविश्वास, द्वेष, घृणा भर रहा है तो वह शत्रु है और जो तुमको श्रद्धा, वैराग्य, भक्ति, भगवान् का अनुभव देता है वह मित्र देता है। क्योंकि नेत्र के मार्ग से संसार चित्त में बहुत कम पहुँचता है। अधिक

बातें चित्त में कर्ण के मार्गसे ही पहुँचा करती हैं इसलिए श्रवणपर प्रतिबन्ध लगाना बहुत आवश्यक है। शास्त्र की भी आज्ञा है

संत संभु श्रीपति अपबादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूदि न त चलिअ पराई॥

जहाँ संत, शिवजी और लक्ष्मीपति श्री विष्णु भगवान की निंदा सुनी जाए, वहाँ ऐसी मर्यादा है कि यदि अपना वश चले तो उस निंदा करने वाले की जीभ काट लें और नहीं तो कान मूँदकर वहाँ से भाग जाएं

भक्त को विषय की चर्चा तथा विषयी पुरुषों का संग त्याग देना चाहिए क्योंकि संसारासक्त पुरुष राग पूर्वक केवल अर्थ, काम, धन अथवा स्त्री की चर्चा करेगा और द्वेष पूर्वक केवल शत्रु की चर्चा करेगा और स्त्री, धन, शत्रु और नास्तिक की चर्चा तो भक्त को सुननी ही नहीं चाहिए।

अभिमानदंभादिकं त्याज्यम् ॥६४॥

अभिमान, दंभ आदि को त्याग देना चाहिये।

अभिमान और दंभ यह दो भक्ति के कट्टर विरोधी हैं, क्योंकि भक्ति सिद्ध हो जाने पर भी 'मैं भक्त हूँ? मैं उपदेष्टा हूँ, इत्यादि अभिमान और संसार में दिखावा करने के लिए बाहरी आडंबररूप दंभ का उदय हो सकता है, इसी कारण भक्ति की साधना करने वाले मनुष्य को अपराध रूप दंभ, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि का त्याग कर देना चाहिये। कबीरदास जी ने कहा है :

जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि है मैं नाहीं ।
प्रेम गली अति सांकरी जामें दो न समाहीं ॥

जब तक मन में अहंकार था तब तक ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ, जब अहंकार (अहम) समाप्त हुआ तभी प्रभु की प्राप्ति हुई। जब ईश्वर का साक्षात्कार हुआ, तब अहंकार स्वत: ही नष्ट हो गया और ईश्वर की सत्ता का बोध भी तभी हुआ। प्रेम की गली इतनी संकरी है कि उसमें केवल एक ही समा सकता है - अहम् या परम ! परमात्मा की प्राप्ति के लिए अहम् का त्याग आवश्यक है। ॥६४॥

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥६५॥

समस्त कर्म भगवान को अर्पण करते हुए काम, क्रोध, अभिमान आदि भी उसमें ही करना चाहिये।

शरीर, इन्द्रियों और मन से वैदिक लौकिक जो कुछ कर्म करें उन सभी भगवान् को ही अर्पण कर देना चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अधर्म करते रहो और उन्हें भी भगवान् को अर्पित करते रहो, अपितु इसका अर्थ है भगवान् को अपने समस्त अच्छे कर्म अर्पित कर दो और बुरे कर्म निवेदित करो-बतला दो कि हमसे यह अपराध-यह बुराई हो गयी, हमें क्षमा कर दो।

प्रेमी भक्त कहते हैं अधर्म का फल दुःख है और कोई प्रेमी, अपने प्रियतम तो दुःख देना नहीं चाहता। इसलिए काम, क्रोध, अभिमान

आदि अवगुणों को त्याग देना ही उचित है अन्यथा उससे भगवान् को ही दुःख प्राप्त होगा।

यदि अभिमान करना हो तो भी भगवान् के विषय में ही करना चाहिए कि हमारे सर्वैश्वर्यवान् प्रभु के समान और कौन हो सकता है ? अथवा हमारे प्राणप्यारे के समान मनोहर और एनी कोई सुंदर कौन हो सकता है? यदि लोभ हो तो भागवद्रूप भक्तों के संग का, यदि मोह हो तो इष्टदेव भगवान् का और यदि मद हो तो भगवान् के गुणगान का करना चाहिए। उचित यही है कि हम जो भी कर्म करें कह सभी ईश्वर के लिए, ईश्वर को ही ध्यान में रख कर करें। समस्त क्रियाओं को करते समय स्मरण रखना चाहिए कि यह सभी क्रियाएं हम ईश्वर के लिए ही कर रहें हैं। और यदि कभी काम क्रोध आदि विकार मन में आएं भी तो सिर्फ भगवत प्रेमास्वादन को बढाने की लिए ही आएं ॥६५॥

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम्, प्रेमेव कार्यम् ॥६६॥

पहले तीनों रूपों की भिन्नता को नष्ट करके, नित्य दास भाव से, नित्य कान्ताभाव से अथवा किसी भाव से प्रेम करना ही चाहिए, प्रेम ही करना चाहिए।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के भेद से अथवा आर्त, जिज्ञासु एवं अथार्थी भेद से गौणी भक्ति तीन प्रकार की होती है। इस गौणी भक्ति के रूपों का नाश करके सत्त्वगुणमयी, रजोगुणमयी तथा तमोगुणमयी भक्ति से ऊपर उठकर निर्गुण प्रेम-भक्ति को अपनाना

चाहिए। आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी भाव का त्याग करके निष्काम भक्ति करनी चाहिए।

प्रेम जहाँ पूर्ण होता है वहाँ भगवान् का स्वरूप, भक्त का स्वरूप तथा भक्ति का स्वरूप बदलता रहता है। भगवान् तथा भक्त का रूप जड नही है। प्रत्येक क्रिया से, प्रत्येक भाव से, प्रत्येक रूप से भक्त भगवान की सेवा करना चाहता है। इसी प्रकार भगवान का जैसा मन होता है वैसे ही भक्त को सुख प्रदान करने के लिए वह बन जाता है। वह कभी उनका बालक बनकर उन्हें लालन करने का सुख देता है, कभी पिता बनकर उन्हें वात्सल्य देता है, कभी सखा बनकर साथ खेलकर उन्हें सन्तुष्ट करता है।

भगवान् जब शेषशायी बनकर रहते हैं तब ऋषि-मुनि उनकी स्तुति करते हैं। किन्तु जब भगवान् वृन्दावन में गोपाल बनकर आ गये तब ऋषि-मुनि वृन्दावन में पक्षी, भ्रमर, वृक्ष, लता बनकर उनकी सेवा करने आये। भक्त को अपने किसी रूपसे प्रेम नहीं होता, उसे तो भगवान् की सेवा-उनके सान्निध्यसे प्रेम होता है।

भगवान् को भी निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, पशु-पक्षी, अथवा मनुष्यादि किसी आकार-विशेष में कोई आग्रह नहीं है।

वस्तुत: भगवान् से भी हमारा एक ही सम्बन्ध है कि हम दास हैं और वह स्वामी हैं। सभी देहधारी, सूर्य-चन्द्र, जल-वायु, पृथ्वी-आकाश आदि ईश्वर के आज्ञानुवर्ती हैं। पञ्चभूत ईश्वर की आज्ञा-ईश्वर के अधीन हैं। अतः पञ्चभूतोसे बने जितने पिण्ड रुपी जितने देहधारी हैं वह सभी ईश्वर की आज्ञा में हैं। सम्पूर्ण विश्व उनके ही आदेशसे ही संचालित है। अत: हम सभी उनके नित्यदास हैं। जीव को अपनी इस

दासता को समझ लेना चाहिए कि ईश्वर हमें नचाता है और हम उसके सामने नाच रहे है।

जब सेवा-दास्यभाव प्रगाढ अवस्था को प्राप्त होता है तब वही कान्ताभाव बन जाता है। जहाँ ऐश्वर्यपूर्वक परमात्मा का चिन्तन है वहाँ नित्य दासभाव होगा और जहाँ माधुर्य पूर्वक ईश्वर का चिन्तन है वहाँ नित्य कान्ताभाव होगा। इसलिए जिस प्रकार भगवान् रखें, उस प्रकार रहो, जिस प्रकार की वह सेवा चाहें वैसी सेवा करो परन्तु निरंतर उनका भजन करते रहो, उनके प्रेम में मग्न रहो। ॥६६॥

नवम अनुवाक

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥६७॥

एकांती भक्त श्रेष्ठ हैं।

जिनकी भक्ति अन्तःकरण से एक मुझ में ही निवद्ध होती है, बाहरी आडम्बर के लिए नहीं होती, जो एकमात्र मेरा ही आधार रखते हैं, वह मेरे एकान्ती वा एकनिष्ठ भक्त ही श्रेष्ठ हैं।

श्रेष्ठ भक्त वही है जो भगवान् में रम गया भगवान् का भाग बन गया। प्रभु से एकान्त के सिद्धान्त में मिलना, जहाँ प्रभु से अपनी बुद्धि, मन तथा क्रिया मिलकर एक हो जाए अर्थात भगवान् को जो प्रिय है , वही भक्त को प्रिय हो जाए।

भगवतः अन्यत् किञ्चिन्नास्ति । 'भगवान् को छोड़कर कुछ है ही नहीं।' यह भगवान् में अनन्यता है। सोने से भिन्न न कड़ा है, न कुण्डल और न हार, यह एकान्त है। 'भगवतः अन्यत् अहमपि नास्मि' यह भक्ति की अनन्यता है और 'मत्तः अन्यत् भगवानपि नास्ति' यह तत्त्वज्ञानकी दृष्टि है।

तस्यैवाहं ममासौ च त्वमेवाहमिति त्रिधा। भक्तों का साधनाभ्यास इन तीन क्रमों से भगवत्-शरणागत होने पर बढ़ता है। प्रथम यह कि 'मैं उनका ही हूँ', दूसरे 'वे मेरे है' और अन्तमें 'मैं तुमसे पृथक् नहीं हूँ।'

इस प्रकार जो भक्त प्रियता, मत, क्रिया में अनन्यता प्राप्त कर सकता है वही श्रेष्ठ है। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में कहा है:

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मेरे में निरंतर लगे हुए उन भक्तों का योगक्षेम में वहन करता हूँ।

जो कुछ देखने, सुनने और समझने में आ रहा है, वह सब-का-सब भगवान का स्वरूप ही है और उसमें जो कुछ परिवर्तन तथा चेष्टा ही रही है, वह सब-की-सब भगवान की लीला है- ऐसा जो दृढ़ता से मान लेते हैं, समझ लेते हैं, उनकी फिर भगवान के सिवाय कहीं भी महत्त्व बुद्धि नहीं होती। वे भगवान में ही लगे रहते हैं। इसलिए वे 'अनन्य' है। केवल भगवान में ही महत्ता और प्रियता होने से उनके द्वारा स्वतः भगवान का ही चिन्तन होता है।

एक दूसरा भाव यह है कि उनके साधन और साध्य केवल भगवान ही हैं अर्थात केवल भगवान के ही शरण होना है, उन्हीं का चिन्तन करना है, उन्हीं की उपासना करनी है और उन्हीं को प्राप्त करना है- ऐसा उनका दृढ़ भाव है। भगवान के सिवाय उनका कोई अन्य भाव है ही नहीं; क्योंकि भगवान के सिवाय अन्य सब नाशवान है। अतः उनके मन में भगवान के सिवाय अन्य कोई अच्छा नहीं है; अपने जीवन-निर्वाह की भी इच्छा नहीं है। इसलिए वे अनन्य हैं। वे खाना-पीना, चलना-फिरना, बातचीत करना, व्यवहार करना आदि जो कुछ भी काम करते हैं, वह सब भगवान की ही उपासना है; क्योंकि वह सब काम भगवान की प्रसन्नता के लिए ही करते हैं। इसी प्रकार भगवान श्री कृष्ण ने यह भी कहा है :

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर सदा ही निरंतर मुझ पुरुषोत्तम का स्मरण करता है, ऐसे नित्य मुझमें युक्त हुए योगी के लिये मैं सुलभ प्राप्य हूँ। ॥६७॥

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥ ६८॥

कण्ठरोध, रोमाञ्च और अश्रु युक्त हुए आपस में कीर्तन करते हुए अपने कुलों को और पृथिवी को पवित्र करते हैं।

जिस समय भक्ति का प्रबल उभार होता है, जिस समय परमप्रेम से हृदय शिथिल हो जाता है, जिस समय प्राण सच्चे अनुराग में व्याप्त हो जाते हैं, उस समय भक्तों द्वारा परस्पर भगवान् के गुण नाम आदि का कीर्तन करते समय कण्ठ रोध हो जाता है, शरीर पुलकायमान होकर रोम खडे हो जाते हैं और न जाने किसके प्रेम में विह्वल होकर दोनो नेत्रों में से अविरल अश्रु धारा बहने लगती है। ऐसे महापुरुष, शरीर, इन्द्रियों और मन के धर्म आदि संसार धर्म में मोहित नहीं होते, उनके मन में भोग विलासिता अथवा शरीर में भोग चेष्टा का उदय नहीं होता, उनको जन्म कर्म आदि का देहाभिमान नहीं होता, उनकी आत्मा में तथा चित्त में अपने पराए की भेदबुद्धि भी नहीं होती और उनका भ्रमर रुपी चित्त भी भगवान् के चरणकमलों को नहीं त्यागता।

यह अवस्था बडी पवित्र और बड़ी मनोहर है,इस अवस्था का साधन बड़ा दुर्लभ है, ऐसे साधक जिस समय भक्ति में भरकर कीर्तन करते हैं उस समय वह केवल अपने वंश का ही नहीं, अपितु इस समस्त भूमंडल को पवित्र कर देते हैं। शास्त्रों में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं, स्कन्द पुराण में कहा गया है :

कुल पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥
(स्क० पुरा० माहे० ख० कौ० खं० ५५।१४०)

अपार-ज्ञानानन्दसिन्धु परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णमें जिसका चित्त लीन हो गया है उस अनन्य भक्तका कुल पवित्र हो गया। वह माता भक्त पुत्र को जन्म देकर कृतार्थ हो गयी। पृथ्वी उस भक्तको पाकर सौभाग्यशालिनी हुई धन्य है वह कुल जिसमें भगवद्भक्त उत्पन्न हुआ!

इसी प्रकार श्रीमद भागवत महापुराण में कहा गया है :

वाग गदगदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति कचिच्च । विल ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
(श्रीमद्भाग० ११।१४।२४)

जिसकी वाणी गद्गद हो रही है, चित्त द्रवित है, कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी लज्जा त्याग कर गाता है और नाचता है, ऐसा मेरी भक्ति क्ति से युक्त भक्त त्रिभुवन को पवित्र करता है।

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहषात्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रोति नृत्यति ॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्ध सत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् । मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः॥
तदा पुमान् मुक्तसमस्तवन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥

(श्रीमद्भाग० ७।७।३४-३६)
जिनकी कहीं तुलना नही ऐसे भगवान् के गुण तथा अवतार लेकर किये हुए उनके कर्म एवं चरित को सुनकर जब मनुष्य अत्यन्त हर्ष के कारण रोमांचित हो जाता है, उसकी आँखों से आँसू झड़ने लगते हैं, वाणी गदगद हो जाती है, कण्ठ भर आता है, वह खुलकर उच्च स्वर से कभी गाता है, कभी रोता है, कभी नाचता है, बार-बार दीर्घ श्वास लेकर 'हरे! जगत्पते ! नारायण !' इस प्रकार बोल उठता है, भगवान् में बुद्धि स्थिर होने से लज्जा छूट जाती है, तब उस पुरुषके सव बन्धन छूट जाते हैं, भगवद्भावके कारण उसका चित्त भगवदाकार हो जाता है, कर्म-संस्कारके सब बीज जल जाते हैं और

वह महान् भक्तिके आश्रयसे अपने भीतर ही स्थित परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।'

भगवान् ने भी नारद जी से स्वयं कहा है:

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

'नारदजी ! न मैं वैकुण्ठमें रहता, न योगियोंके हृदयमें बसता। आप-जैसे मेरे भक्त जहाँ गाते हैं मैं वहीं स्थित हो जाता हूँ। ॥ ६८॥

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्री कुर्वति शास्त्राणि ॥६९॥

ऐसे भागवत भक्त तीर्थों को पवित्र करते हैं, कर्मो को सुकर्म करते हैं, शास्त्रों को सत्शास्त्र करते हैं।

.

पापी पुरुष तीर्थों पर जाते हैं तो तीर्थ उनके पाप दूर करके उनको पवित्र करते हैं, परंतु उन पापियों के समागम से तीर्थों में जो मलिनता उत्पन्न हो जाती है, भक्तों के समागम से तीर्थों से वह मलिनता दूर हो जाती है तथा वह पुन: तीर्थ बन जाते हैं

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तस्थेन गदाभृता ।
(श्रीमद्भागवत)

भक्तों के हृदय में भगवान् नित्य प्रत्यक्ष विराजमान रहते हैं। अतः भक्त जहाँ जाते हैं वह स्थान पवित्र हो जाता है। भगवान् जहाँ-जहाँ

प्रकट होते है, जहाँ लीला करते हैं, वह स्थान नवीन तीर्थ हो जाते हैं। भक्त-संत जहाँ साधन-भजन करते हैं, जहाँ वैठ जाते हैं, वह स्थान तीर्थ हो जाता है।

भक्ति में वह शक्ति है जिससे भगवान् भी पवित्र होते हैं। जब संसारी लोग अपना पाप ताप, शुभ-अशुभ भगवान् को निवेदित करते हैं तब भगवान् उस मलिनता से पवित्र होने के लिए अपने भक्त की पदधूलि धारण करते हैं।

अनुबजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यध्रिरेणुभिः ।
(श्रीमद्भाग० ११।१४।१६)

भगवान् कहते हैं-'मैं नित्य भक्तोंके पीछे इसलिए चलता हूँ कि उनकी चरणधूलि मुझपर पड़े तो मैं पवित्र हो जाऊँ।'

सांसारिक मनुष्य सदैव कर्म करते ही रहते हैं, कर्म तो सब करते हैं और अच्छे बुरे दोनों प्रकारके कर्म करते है परन्तु उनमें से भक्त जन जिन कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वह कर्म ही सुकर्म कहलाते हैं क्योंकि भक्त अपने सब काम भगवान् के लिए ही करता है इसलिए उसके कर्म में कुछ त्रुटि भी हो तब भी वह सत्कर्म ही है, केवल भाव शुद्ध होना चाहिए।

इसी प्रकार शास्त्र भी असंख्य हैं, कुछ तो ऐसे भी शास्त्रीय-ग्रन्थ हैं कि पूरा जीवन उनकी पंक्तियों का अर्थ समझने में लग जाता है। परंतु उनमें से जिन शास्त्रों का अधयन्न भक्त करते हैं, जिन शास्त्रों की रचना करते हैं अथवा व्याख्या करते हैं, वही शास्त्र सभी शास्त्रों से अच्छा है

यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोङ्कितानि य
च्छृण्वन्ति गायन्तिगृणन्ति साधवः॥
(श्रीमद्भाग० ११५।११)

उस वाणी का उच्चारण जनता के पाप का प्रलय है जिसमें श्लोक-छन्द-अलंकार न होनेपर भी भगवान् अनन्त के यशसूचक वह नाम हों जिन्हें साधुजन सुनते, गाते तथा दूसरोंको सुनाते हैं।'

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥
(श्रीमद्भाग० १२।१२।४९)

'वही वाणी रमणीय है, सुन्दर है, नित्य नवीन है, सदा मन को आनन्द देने वाली तथा मनुष्य के शोकसागर को सुखा देनेवाली है जिसमें बरावर उत्तम श्लोक भगवान् का यश गाया जाता है। ॥६९॥

तन्मयाः ॥७०॥

भगवान् पवित्रा को भी पवित्र करनेवाले हैं और मंगल करने करने वालों के भी मंगलस्वरूप है। भक्त भगवान् के भाव में डूबकर तन्मय हो जाते हैं।

जैसे. नदी सागरले भीतर जाकर सागररूप हो जाती है:

यच्चित्तस्तन्मयो मयों गुह्यमेतत् सनातनम् ॥

'जिसमें मनुष्यका चित्त लगा है वह मनुष्य उसका ही स्वरूप है, यह सनातन रहस्य है।'

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

'यह पुरुष श्रद्धामय है। जो जिसपर श्रद्धा करता है वह उसीका स्वरूप है।'

वैसे ही भगवान् का भक्त भगवन् मय होता है।

भक्त भगवान् में आत्म समर्पण करके भगवान् की पवित्र शक्तियों को प्राप्त कर लेते हैं। भक्त जहाँ गया, उसके साथ भगवान् गये। भक्त की वाणीमें भगवान् बोलते हैं। भक्त कर्म करता है तो भगवान उसे अपना कर्म मानते हैं। इसलिए भक्त का स्थल, भक्त के कर्म, भक्त की वाणी सब भगवान् के सम्पर्क से पवित्र हैं। यही कारण है कि उनके समागम से तीर्थ, कर्म और शास्त्र भी पवित्र हो जाते हैं। इस कारण ही कहा गया है

तत्रैव गंगा यमुना त्रिवेणी गोदावरी सिंधु सरस्वती च ।
सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र यत्राच्युतोदारकथाप्रसङ्गः ॥

जहां भगवान श्री हरि की कथा होती है वहां गंगा आदि नदियां समस्त तीर्थ है मूर्तिमान होकर प्रकट हो जाते हैं ।

यस्मिन् शास्त्रे पुराणे वा,हरिभक्तिर्न दृश्यते ।
श्रोतव्यं नैव तच्छास्त्रं,यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत् ॥

जिस शास्त्र एवं पुराण में श्रीहरिभक्ति का वर्णन नहीं किया गया हो, उस शास्त्र व पुराण का श्रवण स्वयं ब्रह्माजी के कहने पर भी नहीं करना चाहिये ।

इससे सिद्ध हुआ कि, सम्पूर्ण विश्व की पवित्रता का कारण भी भगवन्नाम ही है, तब भगवद्भावमय, श्रद्धेय भक्तों के संगसे तीर्थादि पावन हों जाएं तो आश्चर्य ही क्या है ? ॥ ७० ॥

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥७१॥

पितर प्रसन्न होते हैं, देवता नाचते हैं और यह भूमि सनाथ भवति होती है।

भक्तों के प्रभावसे भूलोक पवित्र होता है, पितृलोक निवासी और देवता प्रसन्न होते हैं, भक्त का दर्शन पाकर सकल मर्त्यजीव पवित्र हो कर उनकी पितृकार्य और देवकार्य में श्रद्धा होती है।

जिस वंशमें भक्त उत्पन्न होता है उस वंश के पितर आनन्दित हो जाते हैं कि अब हमारी मुक्ति हो जायगी। जब भगवान् नृसिंह ने प्रह्लाद से वरदान माँगने को कहा तो प्रह्लादने मना कर दिया 'वरदान तो सकाम चाहता है। मुझे वरदान नहीं चाहिए। मेरे हृदय में कोई कामना नही है। आप वरदान ही देना चाहते हैं तो यह वरदान दें कि मेरे मन में कभी कामना का उदय हो न हो।' इसके पश्चात् भगवान द्वारा पुन: आग्रह करने पर प्रह्लाद ने वरदान माँगा-'मेरे पिताने आपसे द्वेष किया, आपका भक्त होनेके कारण मुझे पीड़ा दी। इस दुरन्त भक्तापराधसे वे छूट जायँ ।' भगवान् नसिंह बोले

त्रिसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।
(श्रीमद्भाग० ७।१०।१८)

'निष्पाप प्रल्हाद ! तुम्हारे पिता तो अपने तीनों कुल के सात सात पितरों के साथ पवित्र हो गए।

इसी प्रकार पद्मपुराण में लिखा है :

आस्फोटयन्ति पितरो,नृत्यन्ति च पितामहा:।
मद्वंशे वैष्णवो जातः,स नस्त्राता भविष्यति ॥

जब किसी के वंश में एक वैष्णव का जन्म होता है,तब परलोक में उसके पितामह एवं सभी पूर्वज अति-प्रसन्न होकर तालियां बजाते हुए नृत्य करने लगते हैं और बडे गौरव से कहते हैं,कि आज हमारे वंश में एक वैष्णव ने जन्म लिया है,जो निश्चय ही हमारा उद्धार कर देगा ।

भक्त को देखकर, भक्त के सम्पर्क में आकर लोग धर्मात्मा बनते हैं। धर्मात्मा होने पर वे यज्ञ, दान, तप, देवार्चन आदि करते हैं। धर्म की वृद्धि तथा पाप का नाश होता है। अतः भक्त होता है तो देवता हर्पसे नाचने लगते हैं कि भक्त उनकी तृप्ति तथा अभ्युदयमें सहायक होगा।

मनुष्य के शरीर में सूर्य में नेत्र में, अग्नि ने उदर में, वरुण ने रसना में, वायुदेव ने प्राणवायु के रूप में नाक में, आकाश ने शरीर के हर रिक्त भाग में स्थापित हैं। भक्त के नेत्र जब जहाँ जाते हैं, सर्वत्र भगवान को

देखते हैं तो सूर्य देवता प्रसन्न हो जाते हैं वायुदेवता त्वगिन्द्रिय में बैठकर भगवान् की पूजा का सुख लेते हैं। अग्नि देवता भगवन का प्रसाद ग्रहण कर भगवन्नामोच्चारण करते हैं। इसलिए देवता नाचते हैं कि आज इस भक्तके माध्यमसे हमारा भी भगवान् से सम्बन्ध जुड़ गया।

भक्त को दर्शन देने के लिए ही ये भगवान् भूतल पर प्रकट और प्रकाशित होते हैं, इसलिये पृथिवी भी भक्तो के अनुग्रह से सनाथ होती है

कोटि-कोटि भक्तोंके हृदय में भगवान् आ गये तो पृथ्वी अपने स्वामी को पाकर सनाथा हो गयी। भला नन्द-यशोदा, दशरथ-कौसल्या-जैसे भक्त न होते तो भगवान् पृथ्वी पर क्यों आते ? भक्त के सहारे ही पृथ्वी को अपने नाथ, प्रभु प्राप्त होते हैं। एक भक्त के उत्पन्न होनेसे पृथ्वी, पितृलोक, स्वर्ग सव धन्य-धन्य हो जाते हैं। ॥७१॥

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनायी दिगदः। ॥७२॥

उन भक्तों में जन्म, विचार, रूप, कुल, धर्म, कर्म आदि का भेद नहीं है।

ऐसे भक्त क्या किसी विगेष ब्राह्मणादि जाति में उत्पन्न, बहत विद्वान्, रूपवान्, धनवान्, कुछ विशेष क्रिया के करनेवाले होते हैं ? जाति, कुल, धन, रूप, विद्या, क्रिया आदि से क्या उनमें तारतम्य होता है।

ब्राह्मण अथवा शूद्र, चाण्डाल अथवा मलेच्छ, मनुष्य अथवा पशु जो भी जीव भक्तियुक्त हो कर भगवान की शरण में आता है, भक्त

वत्सल भगवान उसकी जाति विद्यादि की ओर को दृष्टि न देकर दर्शन देंगे, क्योंकि उनकी तो प्रतिज्ञा है, कि-

"यो मद्भक्तः स मे प्रिय:

तथा भक्त भी परस्पर जाति विद्या आदि का गौरव नहीं रखते हैं, क्योंकि भगवत प्रेमी का लक्षण ही यह है, कि

न यस्य जन्म कार्मभ्यां वर्णाश्रमजातिभिः
सज्जतेऽस्मिन्नहभावो दहे वैस हरेः प्रियः।

अर्थात् जिसको इस शरीर में जन्म, कर्म, वर्ण, माश्रम और जाति आदिका अहंकार नहीं होता वही भगवान् का प्यारा भक्त है

अतः जिन्हें पाप-मूलक जाति प्राप्त है उन्हें भक्ति करनेका अधिकार है। कौन किस जातिमें उत्पन्न हुआ अथवा क्या कर्म करता है, यह विचार भक्ति में नही किया जाता। विचार यह किया जाता है कि वह प्रीतिपूर्वक भगवान का चिन्तन-आराधन
करता है या नहीं। प्रह्लाद ने भगवान् नृसिंह से कहा था:

विप्राद्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचंवरिष्टम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ
प्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भाग० ७।९।१०)

जिस ब्राह्मण में दान, जप, वेदाध्ययन, तप, शम-दम, मौन, एकान्तवास, शौच, सत्य, अहिंसा और नियमपालन यह बारह गुण तो हों, किन्तु वह भगवान् के चरणारविन्द से विमुख हो तो उससे भगवान् की भक्ति करनेवाला चाण्डाल श्रेष्ठ है, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि जिसने अपनी वाणी, मन, प्राण भगवान्को समर्पित कर दिये हैं वह तो अपने कुलको भी पवित्र कर देता है; किन्तु अपनेको बहुत विद्वान्, दानी, तपस्वी आदि माननेवाला अहंकारी स्वयं भी पवित्र नहीं होता। ॥७२॥

ईश्वरको प्रसन्न करने के लिए किसी जातिविशेषमें जन्म लेना आवश्यक नहीं है। ब्राह्मण प्रभु को वेद सुना सकता है। क्षत्रिय पहरा दे सकता है। वैश्य उनकी सेवा की वस्तुएँ ला सकता है। शूद्र सेवा कर सकता है। स्त्री गायन-नृत्य तथा भोजन बनाकर प्रभु को प्रसन्न कर सकती है।

सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृष्टो वणिक्पथः।
व्याधः कुटजा बजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अनतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरक्षसा ॥
(श्रीमद्भाग० ११।१२।६-८)

सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवन्त, गजराज, गीधराज जटायु, वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रज की गोपियाँ, यज्ञ पत्नियाँ तथा अन्य अनेक ऐसे हुए हैं जिन्होंने वेद नहीं पड़े, महापुरुषों की सेवा नहीं को, कोई व्रत अथवा तपस्या भी नहीं की, केवल सत्संग, भगवान के प्रति प्रेम से भगवान्

को प्राप्त हो गए। केवल प्रेम के भाव के कारण गोपियाँ ही नहीं, व्रज की गायें, पशु तथा पर्वत, पक्षी, वृक्षादि दूसरे मूढ़बुद्धि नागादि भी सरलता से भगवान् को प्राप्त हुए।

यतस्तदीयाः ॥७३॥

क्योंकि वह सब उनके ही हैं।

संसार में कोई जाति के कारण बड़ा है तो कोई विद्वान् होने के कारण । कोई सौन्दर्य के कारण आदर पाता है तो कोई अच्छे प्रतिष्ठित कुल में उत्पन्न होने के कारण। धन जिसके पास हो उसका सम्मान लोक में होता है और जिसके कर्म उत्तम हो उनका सम्मान तो सब करेंगे ही।

भक्ति के मार्ग में कोई ब्राह्मण हो या शूद्र, किसी भी जाति में जन्म लेने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। कोई बहुत पढ़ा विद्वान् हो या अनपढ़, इससे भी कोई अन्तर नहीं आता। सुन्दर या कुरूप का विचार तो विषयी करते हैं, भक्त न करें तो ठीक ही है। उत्तम प्रतिष्ठित कुल में जन्म हुआ हो या तिरस्कृत कुल में, इसका भी विचार भक्तों में नहीं होता। न वहाँ धन की प्रतिष्ठा है न निर्धन का अनादर। सबसे अद्‌भुत बात तो यह है कि क्रिया किसने कैसी की, इससे भी भक्ति में कोई श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व नहीं आता क्योंकि सभी भक्त भगवान् के हैं और भगवान उनके और जब वह दोनों के हृदय में समान भावसे विराजमान हैं, तब दो भक्तों में भेद कैसा ?

दशम अनुवाक

वादो नावलम्ब्यः ॥७४॥

वाद का आश्रय नहीं लेना चाहिए।

भक्तिमार्ग में यह आवश्यक है कि शुष्क वाद का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। जिसका प्रत्यक्ष अथवा अनुमान नहीं हो सकता उसमें तर्क करना निष्प्रयोजन है, विश्वास की दृढता के लिए कहीं कहीं विचार कर लेना चाहिए परन्तु प्रतिकूल तो करनी ही नहीं चाहिए, क्योंकि तर्क वितर्क, वाद विवाद करने से मन में सदैव दूसरे को जीतने का दुराग्रह होता है और तमोगुण का उदय हो जाताहै, तमोगुण भक्ति का वाधक है, इसलिये वाद विवाद को त्याग देना ही उचित है।

ब्रह्मसूत्र में कहा गया है:

तर्कः अप्रतिष्ठानात् ।

तर्क में कोई निश्चित स्थिति नहीं प्राप्त होती। तर्क से संज्ञान में सम्मान, बैठने का स्थान नहीं मिलता।

भक्त को वाद विवाद के अखाड़े में नहीं उतरना चाहिए। वाद-विवाद तो वह करे जिसे दूसरे को पराजित करने में आनन्द आता हो। अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि जो अनेक मतवाद हैं इनमें से भी किसी वाद का आश्रय न लेकर भजन ही करना चाहिए। वाद का कहीं अन्त नहीं होता। ब्रह्म अद्वैत है, अद्वैतवादी नहीं है।

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवाद वो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥
(श्रीमद्भाग० ६।४।३१)

जिन सर्वव्यापक अनन्त प्रभु की शक्ति ही अनेक मत रखने वालों के वाद-विवाद का आधार होती है और उनके चित्त में बार-बार मोह उत्पन्न करती है उस प्रभु को नमस्कार। जब दो मनुष्य परस्पर विवाद करते हैं तब दोनों के अन्तःकरण में ईश्वर ही बैठा होता है। किन्तु ईश्वर-ईश्वर में विवाद नहीं होता। ॥७४॥

बाहुल्यावकाशवत्वादनियतत्वात् ॥७५॥

अधिक अवकाशवाला होने से नियम रहित होने के कारण।

भगवत्तत्त्व को जानने के लिये वाद विवाद करना नितांत निरर्थक है । कोई चाहे जितना वाद विवाद करे, चाहे जितनी शास्त्रीय चतुराई दिखलाए, चाहे जितनी कूटनीति का जाल फैला ले, उसकी बुद्धि भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकती क्योंकि वह केवल तर्कों-वितर्कों में उलझ कर रह जाएगा। कठोपनिषद में कहा गया है

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति ।
तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य ।

जहाँ से मन के सहित वाणी आदि इन्द्रियां, उसे न पाकर लौट आती हैं, उस ब्रह्म के आन्नद को जानने वाला पुरुष कभी भय नहीं करता, इस प्रकार यह श्लोक है। उस मनोमय पुरुष का भी यही परमात्मा शरीरान्त्वर्ती आत्मा है, जो पहले बताये हुए अन्नमय शरीर अथवा प्राणमय शरीर है।

जिसने भगवत तत्व का अनुभव कर लिया वह पार हो गया और जिसने अनुभव नहीं किया वह डूब ही गया। अतः पार जाने की विद्या यह है कि वाद-विवाद में बात बढ़ती है, चित्त विक्षिप्त होता है, इससे कोई निश्चित सिद्धान्त प्राप्त नहीं होता।

अत: भगवान् को प्राप्त करने ले लिए, भक्ति प्राप्त करने के लिए तथा ह्रदय में भगवान् के प्रति प्रेम उपजाने के लिए वादविवाद को छोड देना चाहिए, केवल भगवान् पर विश्वास रखना चाहिए ॥ ७५ ॥

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि, इबोधककर्माण्यपि च करणीयानि ॥७६॥

भक्तिशास्त्रों का मनन तथा भक्ति को बढ़ानेवाले कर्मों को करना चाहिए।

भक्त को वाद विवाद को त्याग कर केवल सिद्धांतस्वरूप भक्ति शास्त्र में जो कुछ लिखा है उसका विचार करना चाहिए। आचार्य और भक्तों द्वारा रचित सिद्धांत वाक्यो के गूढ तत्त्वों को समझना चाहिए, और भक्ति को वढाने के लिये सत्संग, तीर्थयात्रा, भगवत्कथाओं का श्रवण, भक्तों के साथ सम्भाषण, भगवत्सेवा और

गुरुशुश्रूषा आदि कर्म करते ही निरंतर भक्ति को बढ़ाते रहना चाहिए तथा विघ्नों से सदा दूर ही रहना चाहिए।

सत्संग में कथा, प्रवचन, उपदेश में जाना तो उत्तम है किन्तु जहाँ जाकर अपने इष्ट, अपने साधन के प्रति मन में संशय आए तो वहाँ जाना विघ्न ही है।

भक्त का दृढ़ निश्चय होना चाहिए-'हमको सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका ऐश्वर्य प्रिय नहीं है। हमको भक्ति प्रिय है।' भौतिक ऐश्वर्य-उत्कर्ष का बलिदान करके भी जिसे हृदय का निर्माण करना प्रिय है वह भक्त है। भगवान् हृदय की स्थितिविशेष में प्राप्त होते हैं। अतः वह स्थिति बनानेके लिए भक्तिशास्त्र का मनन मनन आवश्यक है।

भक्त को भगवान् के रूप, नाम तथा गुणों का चिन्तन करना चाहिए। जो शास्त्र भगवान् के मृदु, दयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमानादि गुणों का, उनकी लीला-कथा का, उनके नाम के प्रभाव का प्रतिपादन करते हैं उनका चिंतन, उनका मनन करना चाहिए और भक्ति को जागृत करने वाले कर्मों को करते रहना चाहिए, भगवान् के नाम का जप करना चाहिए, कीर्तन करना चाहिए, भगवान के श्री विग्रह का दर्शन, तीर्थों का भ्रमण करना चाहिए। ॥ ७६ ॥

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्ध मपि व्यर्थं न नेयम् ॥७७॥

सुख, दुःख इच्छा, लाभ आदि से रहित काल की प्रतीक्षा करते हुए आधा क्षण भी नहीं बिताना चाहिये ॥७७॥

मनुष्य जीवन का समय वैसे ही अल्प है, फिर इस जीवन का एक बड़ा भाग, विवश होकर प्रकृति के नियमानुसार बालकपन, धनोपार्जन, शयन इत्यादि में बिताना पड़ता है, कभी दुःख में, कमी सुख में और कभी विषय चितवन में समय व्यतीत हो है, यदि भाग्यवश कभी वासनाओं का क्षय होकर सुख दुःखादि से रहित समय मिल जाए तो उसमें से आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं करना चाहिए, उसमें परम पुरुषार्थ रूप परम प्रेम का अनुसंधान करना चाहिये, भक्ति शास्त्रों का मनन तथा भक्ति को जागृत करने वाले कर्म करने चाहिए

अतः चित्त-वृत्ति को सदैव भगवान् में ही लगाये रहो। क्षणार्थ भी व्यर्थ मत जाने दो। बीता हुआ समय कभी वापस नहीं आता। ॥ ७७ ॥

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परि पालनीयानि ॥७८॥

अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि चारित्रिक धर्मों का उचित प्रकार से पालन करना चाहिए।

चित्त की मलिनता को दूर करने के लिये और सत्त्व गुण का उदय करने के लिए अहिंसा, सत्य, शौच, दया और आस्तिकता आदि यम नियमों का आचरण यथा शक्ति करना चाहिए।

जिसके मन में द्वेष है वह शत्रु का स्मरण करेगा और भगवान् का स्मरण ही नहीं करेगा। यदि मन में राग भरा है, इच्छा भरी है तो जिससे राग है केवल उसका चिन्तन करेगा,भगवान का चिंतन भूल जाएगा। इसलिए राग-द्वेष, असत्य-क्ररटा, मलिनता आदि का त्याग

करके भगवान् के चिन्तन में ही सम्पूर्ण समय व्यतीत करना चाहिए। ॥७८॥

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥ ७९ ॥

सभी काल में, सभी भाव से निश्चिन्त रूप से भगवान ही सेवा करने योग्य हैं।

अब प्रश्न यह है कि शास्त्रों में तो बहुतसे उपदेश हैं। धर्माचरण के भी अनेक सिद्धांत हैं। सत्पुरुष भी अनेक प्रकारके उपदेश करते हैं। धर्म के पालन के लिए इनमें से किसे अपनाया जाय ?

श्रतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नेको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम् । धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

श्रुतियाँ अनेक प्रकार की हैं और स्मृतियाँ भी अनेक बातें कहती हैं। ऋषि भी अनेकों हुए हैं। धर्म का तत्त्व स्पष्ट भी नहीं है। वह छिपा हुआ है। अतः महापुरुष जिस मार्गसे गये हैं वही ठीक मार्ग है।'

इस लिए अन्य सभी बातों की चिन्ता को छोड़ कर, सर्वदा सर्वभाव से निश्चिन्त होकर भगवान् का भजन करना ही उचित है।

नमः सर्वस्मै ते तदिदमपि सर्वाय च नमः ।

सर्वस्वरूप आप सर्वमयको नमस्कार ! जव सर्वरूप, सर्वत्र सर्वदा परमात्मा ही विद्यमान है तो चिन्ता करने का कोई कारण ही नहीं है।श्रीमद भगवत गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥
(गीता ७।३०)

जो अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञके साथ-तीनों रूपोंमें मुझे जानता है वह युक्तचित्त है और वह मरणके समय भी मुझे जानता है।

अत: सम्पूर्ण अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म के रूप में भगवान् को ही देखो। अध्यात्मक रूप में भगवान् साक्षी हैं। अधिदैव-सर्वदेवरूप, समस्त इन्द्रियों के प्रेरक प्रकाशक भगवान् ही हैं । अधिभूत-जगत् में भगवान् के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जब भजनीय ही सर्वरूप है तो सर्व काल में सर्वदा केवल भजन ही करना चाहिए। ॥७९॥

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ॥८०॥

वह कीर्तन किए जाते पर शीघ्र ही अवतरित होते हैं और भक्तों को अपना अनुभव कराते हैं।

भगवान् के नाम, गुण, लीला, यश का कीर्तन करना चाहिए। न तो इसमें धन लगता है, न ही विद्या की आवश्यकता होती है, न योगाभ्यास करना पड़ता है, और फल अति उत्तम प्राप्त होता हैं। भगवान् का भजन करते करते वृत्ति भगवदाकार बन जाती है। जैसे कोई छोटे बच्चे को पुकारे तो बच्चा दौड़ा आता है वैसे ही भगवान् भी कीर्तन करने पर श्रीघ्र ही आ जाते हैं तथा अपने स्वरुप का

अनुभव करवाते हैं। जैसे मैया यशोदा जब पुकारती थीं-'लाला कन्हैया !' तब आकर सामने खड़े होकर कहते थे 'हाँ मैया !' इसी प्रकार कीर्तन होनेपर भगवान् शीघ्र ही भक्तो के हृदय में प्रकट हो जाते हैं, और भक्तो को मनचाहे रूप का दर्शन देते हैं। देवर्षि नारदजी का अपना अनुभव भी यही है। वह कहते हैं :

आहूत इव मे शीघ्र दर्शनं याति चेतसि ।

कीर्तन करते ही वे मेरे चित्तमें ऐसे प्रकट हो जाते हैं जैसे उन्हें पुकारकर बुलाया गया हो।

भगवान् ने भी कहा है:

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

जहां मेरे भक्त मेरे नाम गुण आदिका कीर्तन करते हैं, मैं तहां ही नित्य विराजमान रहता हूँ।

गजराज ने जब आर्तभाव से भगवान् को 'गोविन्द !' कहकर पुकारा तो भगवान् ने 'गो' शब्द वैकुण्ठ में सुना और 'विन्द' शब्द मार्ग में। द्रौपदी ने कौरवों की सभा में दुःशासन द्वारा साड़ी खीचे जाते समय पुकारा और भगवान् द्वारका से दौड़े आये। भगवान् ने आविर्भावका हेतु यह कीर्तन ही है। ॥८०॥

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥८१॥

त्रिकाल में सत्स्वरूप भगवान की भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। ॥८१॥

भगवान को प्राप्त करने के लिए शास्त्रों में जितने साधन कहे गए हैं, उनमें एक भक्ति ही सबसे सुगम और श्रेष्ठ उपाय है। क्योंकि-'भक्ति प्रियो माधवः'

अन्य साधन बडी कठिनता से हो सकते हैं तथा उनमें सर्वसाधारण का अधिकार भी नहीं है । परन्तु भक्ति ऐसा साधन है, कि केवल दीनभाव के आवेशमें भगवानको पुकारने पर ही भक्तवत्सल भगवान् हृदय में उदित हो जाते हैं। जो सिद्धि युग युगान्त योगसाधना करने से नहीं होती वह भक्ति साधना से क्षणभर में प्राप्त हो सकती है।

भक्तिः पुनाति मन्निष्टान्श्वपाकानपि सम्भवात् ।

भक्ति प्रारब्ध को भी परिवर्तित कर देती है। 'सम्भवात् जन्मतोऽपि'- जिनका प्रारब्ध इतना दूषित था कि उसके कारण उन्हें चाण्डाल कुलमें जन्म लेना पड़ा उन्हें भी भक्ति पवित्र कर देती है।

ईश्वरको प्राप्त करानेवाले तीन साधन हैं- कर्म, उपासना और भक्ति । अन्य कोई चौथा उपाय ईश्वर की प्राप्ति का नहीं है। श्रीभगवान् कहते हैं

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।

ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
(श्रीमद्भाग० ११।२०।६)

मनुष्यों के कल्याण के लिए तीन साधन मैने बताए हैं- ज्ञान, कर्म तथा भक्ति। इनके अतिरिक्त अन्य कोई साधन कहीं नहीं है।

सत्यस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कराने वाले यह तीनों साधन सत्य हैं। इस 'त्रिसत्य' में भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। इसलिए देवर्षि नारद मानो शपथ पूर्वक भक्ति की श्रेष्ठता को सूचित करते हुए कहते हैं कि, भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही महान है। ॥ ८१॥

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदा
स्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदना
सक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा
भवति ॥ ८२ ॥

एक प्रकार की होकर भी १. गुणमाहात्म्यासक्ति, २. रूपासक्ति, ३. पूजासक्ति, ४. स्मरणासक्ति, ५. दास्यामक्ति, ६. सख्यासक्ति, ७. कान्तासक्ति,८. वात्सल्यासक्ति,९. आत्मनिवेदनासक्ति, १०. तन्मयतासक्ति और ११. परमविरहासक्ति, इन ग्यारह रूपों की होती है।

भक्ति तो एक ही है, परन्तु उसके ग्यारह साधन होते हैं। जो जिसको चाहता है वह उसकी सकल चेष्टा और सकल अंगोंको चाहता है, परन्तु कई ऐसा भी होता है कि आसक्ति केवल एक अंग अथवा भाव में ही होती है। ऐसे ही भक्त भगवान् में सभी प्रकार से आसक्त होते

हैं, परंतु कोई भक्त उनके केवल किसी एक भाव पर ही विशेष आसक्त होते हैं। और भक्तों की आसक्ति के आधार पर उनकी भक्ति को ग्यारह भागों में विभाजित किया जा सकता है।

जैसे राजा परीक्षत, नारद, हनुमान और हरिगुण सुननेको दश सहस्र कान माँगनेवाले राजा पृथु भगवान् के गुणमाहात्मासक्त भक्त हुए।

कृष्णा को बालरूप में प्रेमी नन्द उपनन्द यशोदा आदि और किशोर रूप की प्रेमिका ब्रज देवियाँ पशु पक्षी आदि रूपासक्त भक्त हुए।

इसी प्रकार राजा पृथु पूजासक्त, प्रह्लाद स्मरणासक्त, हनुमान् अक्रूर विदुर घादि दास्यासक्त, अर्जुन सुग्रीव उद्धव कुबेर सुवल्ल श्रीदामादि सख्यासक्त, ब्रजगोपिकाएं कान्तासक्त, नन्द यशोदा कौशल्या दशस्थ प्रादि वात्सल्यासक्त, राजा वाल वात्मनिवेदनासक्त, शौण्डिन्य शुकदेवआदि महायोगी अभेदभाव से तन्मयतासक्त, श्रीकृष्ण के वैकुण्ठ को पधारने पर गोपी और उद्धव आदि परविरहासक्त भक्त कहलाये हैं

परन्तु यह आसक्ति केवल इसलिए है की वह सर्व समर्थ परमात्मा रस स्वरुप हैं । श्रुति कहती है-'रसो वै सः' अर्थात परमात्मा रस है और 'रसं ह्यबायं लश्वा आनन्दी भवति' अर्थात उस रस स्वरूप को पाकर ही पुरुष आनन्द प्राप्त करता है ।

कुछ का मत है कि भक्ति स्वयं रस है। दूसरों का मत है कि भक्ति भाव है और परमात्मा रस है। भक्ति को भी जो लोग रस मानते हैं उनके भी दो भेद हैं। एक मानते हैं कि शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य-ये भाव हैं और भक्ति रस है। दूसरा मत है कि शान्त, सख्य,

वात्सल्य, माधुर्य ये रस हैं। अद्वैत-सम्प्रदायमें परमात्माको रस तथा भक्तिको भाव माना जाता है। परमात्मा रसरूप है इसमें कोई विवाद नहीं है

भगवान् शंकराचार्य का मत है कि परमात्मा रसरूप है, यह अनुभव प्राप्त करनेके लिए अधिकार प्राप्त करना चाहिए। भक्ति-भाव इस अधिकार की प्राप्ति में, अन्तः करण के शोधन में हेतु है।

श्री मधुसूदन सरस्वतीने अपने 'भक्तिरसायन' में भक्तिके रसरूप होने का प्रतिपादन किया है।

श्री चैतन्य महाप्रभु के मत में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य ये पांचों स्वतन्त्र रस हैं। ईश्वरके साथ जुड़नेवाला प्रत्येक भाव स्थायी भाव होनेसे वह रसरूप हो जाता है।

देवर्षि नारद ने यह सूत्र भक्ति को रस मानकर ही प्रतिपादित किया है और कहा है भक्ति के ग्यारह भेद हैं। एक ही भक्ति भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंमें तत्तद्भक्त की योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न रूप ले लेती है।

जिस भक्त के अन्तःकरण में जैसी योग्यता होती है उसके अन्तःकरण में भक्ति स्वेच्छा से वैसी ही बन जाती है। भक्ति के रूप का परिणाम नहीं होता, आकारका परिणाम होता है। इस प्रकार ग्यारह रूप होकर भी भक्ति एक ही है।

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्या सशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद् विभीषणादयो भक्ताचार्याः ॥ ८३ ॥

लोकहास्य से निर्भय हुए भक्ति के आचार्य गण कुमार (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार), श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णुभगवान्, कौण्डिन्य, भगवान् शेष, उद्धव, आरुणि, दैत्यराज बलि, हनुमान्, विभीषण आदि एक मत से इस भक्ति को ऐसा ही कहते हैं।

सबके अपने-अपने मत होते हैं। सबके विचार, रुचि, मत पृथक-पृथक होते हैं। सत्पुरुष सुनते सबकी हैं किन्तु करते अपने मन की हैं। वह लोगों के कहने-सुनने की चिन्ता नहीं करते।

इस प्रकार लोकों की निंदा स्तुति का कुछ, भय न कर कुमार (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार), श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णुभगवान्, कौण्डिन्य, भगवान् शेष, उद्धव, आरुणि, दैत्यराज बलि, हनुमान्, विभीषण आदि सभी आचार्यों ने एकमत होकर एकवाक्य से भक्ति के स्वरूप का इसी प्रकार वर्णन किया है, उनकी मत और व्याख्या के अनुसार नारद जी के भक्तिसूत्रों को चाहे कोई उपहास्य की दृष्टि से देखे, परन्तु वह उससे भयभीत नहीं हैं क्योंकि इसमें किसी भक्ताचार्य का मतभेद नहीं है ॥ ८३ ॥

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति ॥८४॥

जो इस नारद जी द्वारा कहे गए, इस कल्याण कारी उपदेश में विश्वास और श्रद्धा करता है, वह भक्तिवाला होता है, वह प्रियतम को प्राप्त करता है। भक्ति सूत्र समाप्त हुआ।

अब अन्तमें सूत्र-ग्रन्थका उपसंहार करते हुए उसका माहात्म्य बतलाते हैं।

यद्यपि और साधनों से भगवान् को ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति आदि रूप में उपासना की जा सकती है, परन्तु भक्ति की साधना के विना परम प्रिय रूप से उनको प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो इन नारदजी के सूत्रों पर विश्वास और श्रद्धा करके भक्ति मार्ग पर प्रशस्त होगा, वह प्रियतम रूप से भगवान् का दर्शन प्राप्त करेगाऔर परम प्रियतमके रूप में भगवान् की प्राप्ति तभी होगी जब धन, परिवार, संसारके कार्य में आसक्ति छोड़ कर भगवान् से प्रेम होगा। भगवान् से प्रेम तभी होगा जब भगवान् में तथा भक्तिशास्त्र में विश्वास एवं श्रद्धा होगी।